# सत्संग और साधन

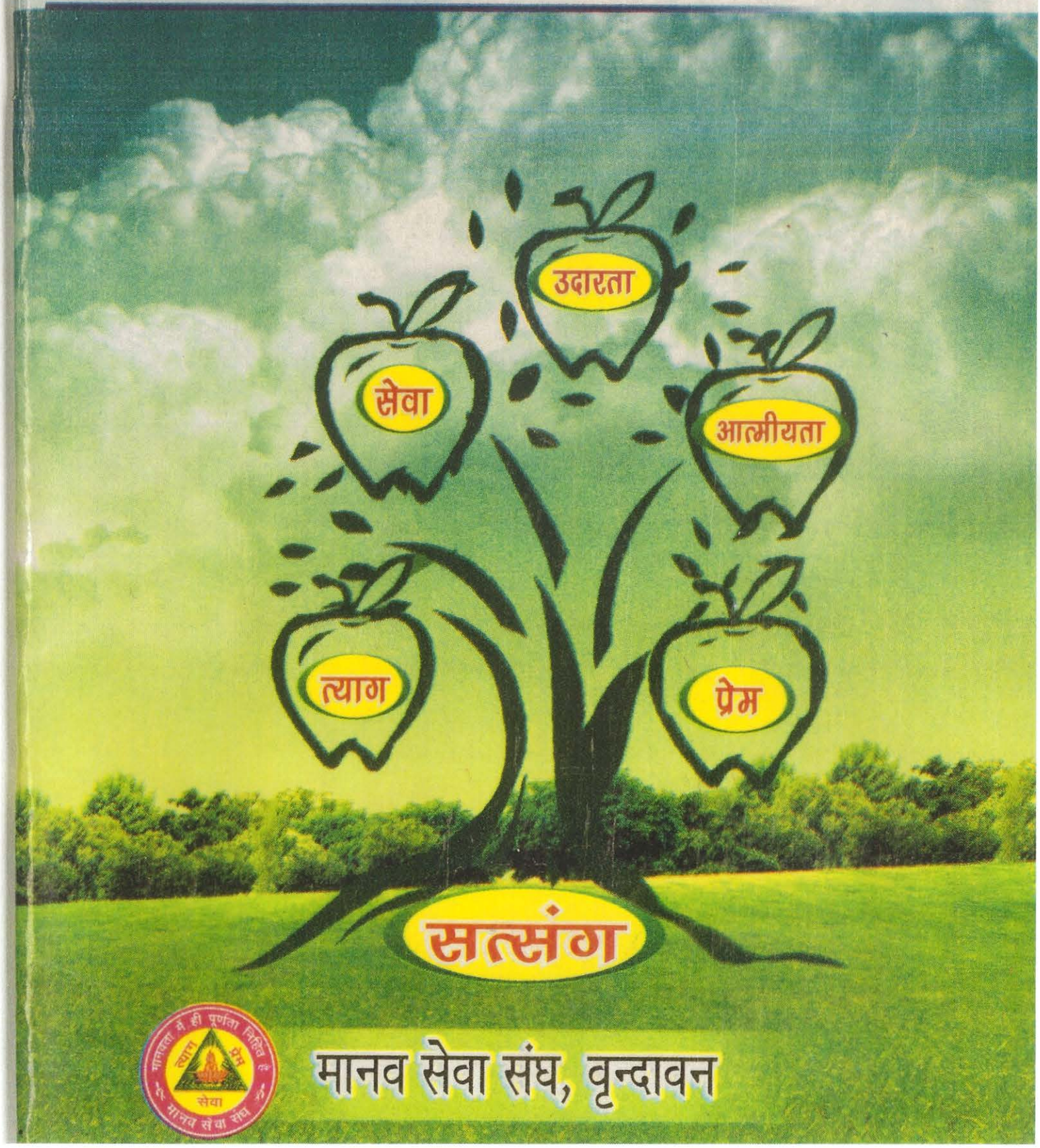


मानव सेवा संघ, वृन्दावन

# सत्संग और साधन

मानव सेवा संघ
के प्रवर्तक सन्त प्रवर
ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी
*श्री शरणानन्द जी महाराज*
की अमृत वाणी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

• प्रकाशक :
**मानव सेवा संघ**
वृन्दावन, मथुरा, (उ०प्र०)

© सर्वाधिकारी प्रकाशक

• षष्ठम् संस्करण : 2009

• 3000 प्रतियाँ

• मूल्य : 15.00 रुपये

• मुद्रक :
**पावन प्रिन्टर्स,**
मेरठ

# प्रार्थना (1)

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो, आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जाएँ।

# प्रार्थना (2)

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणासागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

## अनुक्रम


1. आमुख ... 5
2. असत् का त्याग : साधन की अभिव्यक्ति ... 21
3. अकर्तव्य का नाश : स्वाधीनता की अभिव्यक्ति ... 25
4. पराधीनता का नाश : स्वाधीनता की अभिव्यक्ति ... 33
5. आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति ... 40
6. मूक सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति ... 48
7. उपसंहार ... 61


## स्मरणीय

1. सन्त अमर हैं, उनकी वाणी भी अमर है।
2. इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है।
3. इस वाणी के आदर में जीवन का आदर है।
4. इस वाणी के आदर में सन्त का आदर है।
5. इस वाणी के आदर में संघ का आदर है।

: 1 :

# आमुख

"सत्य क्या व्यक्ति के आश्रित होगा ?" करुणा से उद्वेलित एक महामानव के व्यथित हृदय से यह मर्मस्पर्शी वाणी निकली थी। उस वाणी की हूक ने हृदय को बींध दिया ! विचारों में हिलकोरें आईं—एक प्रकाश मिला—सचमुच आज हम सत्य के लिए, मानव-मात्र की चिरन्तन माँग की पूर्ति के लिए व्यक्ति का सहारा ढूँढते हैं। वास्तविकता से अभिन्न होने के लिए मानव को किसी भी बाह्य आश्रय की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह सत् कैसा जो असत् के आश्रित हो !

जीवन-प्राप्ति में स्वाधीनता का यह अमर सन्देश सुनकर हम अपने जीवन द्वारा इस सन्देश के महत्त्व को आदर नहीं देते, प्रत्युत् क्षण-क्षण छीजने वाली जिस वाणी के माध्यम से यह सत्य उद्भासित हुआ है उस वाणी को सुरक्षित रखने का विफल प्रयोग करते रहते हैं। यह कैसा प्रमाद है ? कैसी विडम्बना है ? क्रान्त-द्रष्टा का हृदय हमारी इस दुर्दशा से मर्माहत होता है।

1946–47 के बीच भारतवर्ष में धर्म और राजनीति के नाम पर जो क्रूर नृशंस कुकृत्य हुए, उससे भी एक बार उक्त महामानव का हृदय-मन्थन हुआ था। व्यक्तिगत विकारों के शिकार एक-एक व्यक्ति के पीछे चलने वाली जातियों ने परस्पर के संघर्ष में अपने को बरबाद कर लिया था। उस दृश्य ने जो व्यथा दी उससे एक नवीन जागरण आया। युग ने सुना—"हे विकास-पथ के गामियो, निज विवेक का आदर करो।"

हमारी जो वर्तमान दशा है उससे हम सन्तुष्ट नहीं हैं। जीवन घिरा है विवशता, नीरसता और मृत्यु के भय से—भीतर से माँग है स्वाधीनता, सरसता और अमरत्व की। इसी द्वन्द्वयुक्त दशा ने व्यक्तिगत, समाजगत, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं को जन्म दिया है।

सामाजिक जीवन को सुरक्षित एवं समृद्ध बनाने के लिए नई-नई शासन-प्रणालियाँ बनती जा रही हैं, पर व्यक्ति का प्रणालियों में जो आग्रह है वह प्रजा को संहार की ओर ढकेल रहा है। संघर्ष का मूल है भेद-बुद्धि। इस मौलिक भूल पर दृष्टि न रखकर संघर्ष को मिटाने के लिए बड़े-बड़े आयोजन हो रहे हैं, परन्तु प्रतिपल मानव-जाति संहार के निकट पहुँचती जा रही है। व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने के लिए मानव-हितकारी भावों से भावित महापुरुषों के पुरुषार्थ से विचारकों और सत्य के जिज्ञासुओं का, प्रश्नकर्ताओं और उत्तरदाताओं का मिलन होता रहता है। फिर भी जीवन की समस्या हल नहीं होती। वास्तविकता पहेली बनी रहती है। साधक उसमें उलझे रहते हैं। सत्य की चर्चा दिन-रात होती है परन्तु प्रगति का पथ अवरुद्ध मालूम होता है। कारण क्या है ?

दुनिया का बड़े से बड़ा महापुरुष सत्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करता है, तो उसमें उसका अपना दृष्टिकोण होता है। जैसे—किसी ने सत्य को निर्विशेष तत्त्व कहा और किसी ने उसी सत्य को अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य से पूर्ण, अनन्त विभूतियों से विभूषित सविशेष कहा। जिसने निर्विशेष तत्त्व करके जाना उसके लिए वह सत्य है। पर 'यही सत्य है' ऐसा आग्रह हो जाए तो आग्रही सत्य से दूर हो जाता है। उसी प्रकार जिसको सत्य का दर्शन सविशेष रूप में हुआ है उसके लिए वह सत्य है। पर वह सबके लिए साध्य-रूप सत्य नहीं हो सकता। फिर भी सविशेष रूप में किसी का आग्रह हो जाए, तो यह भी भूल ही है। अनन्त को सान्त कह देने के समान है। सत्य तो सविशेष भी है। आज तक उसके सम्बन्ध

में जो कुछ कहा गया, उतना तो है ही, उससे विलक्षण भी है। सत्य की खोज करने वालों के लिए किसी भी प्रतिपादित सिद्धान्त का आग्रह प्रगति का बाधक है। स्वयं सत्य की खोज करने पर अपने दर्शन का दर्शन होता है। वही दर्शन वास्तविकता से अभिन्न करा देता है। इसलिए सत्य को व्यक्ति-विशेष पर आश्रित करना भूल है।

व्यक्ति के साधन-रूप सत्य को साधन-रूप न मानकर साध्य-रूप मान लेना उससे बड़ी भूल है और किसी व्यक्ति विशेष द्वारा प्रतिपादित साधन-रूप सत्य को सार्वभौम सत्य मानकर उसका आग्रह करना सत्य की खोज के रूप में घोर असत्य का प्रतिपादन है। साधकों को भ्रम के इस दलदल से उबारने के लिए **"सत्संग और साधन"** पुस्तक की रचना हुई है।

व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित सत्य सार्वभौमिक नहीं होता। अत: सभी के लिए अनुसरणीय नहीं हो सकता। व्यक्ति का सहारा लेकर कोई सत्य का दर्शन नहीं पा सकता। सब बाह्य सहारे छोड़कर सत्य की खोज करने पर एक ही सत्य विभिन्न साधकों में विभिन्न रूपों में स्वयं प्रकाशित होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से सत्य से अभिन्न हो सकता है। इसी विषय का वैज्ञानिक विवेचन **"सत्संग और साधन"** में किया गया है, जो वर्तमान युग की माँग है।

परम्परागत रूढ़ियों पर आस्था अब नहीं रही। आज सत्य की खोज, जीवन की माँग की पूर्ति सर्व काल में, सब दशा में, सबके लिए सुलभ सिद्ध करने के लिए ऐसी साधन-प्रणाली की आवश्यकता है, जिसका प्रयोग साधक स्वतन्त्र रूप से अपने जीवन में कर सके। प्रस्तुत पुस्तिका एक ऐसा ही दृष्टिकोण आपके सम्मुख उपस्थित करती है, जिसे प्राप्त कर आप यह कह सकेंगे कि वस्तुत: वास्तविक जीवन से अभिन्न होने में प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन है। उपदेश की प्रथा आज असफल सिद्ध हो रही है। उसके द्वारा न उपदेशक के जीवन की समस्या हल होती है और न श्रोताओं

की। इस प्रणाली को बदलने के लिए क्रान्ति की आवश्यकता है। ऐसी दशा में सत्संग और साधन का विभाजन मार्ग-प्रदर्शन करता है।

**"सत्संग और साधन"** में यह दिखाया गया है कि जीवन के मौलिक विकास में एक शुद्ध वैज्ञानिक क्रम है। उसकी अवहेलना करने पर अभिप्रेत फल नहीं होता। जैसे प्रकृत बीज और वातावरण का प्रभाव (Nature & Nurture), जो शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास में हेतु है, एक विधान के अनुसार कार्य करता है। उसी प्रकार आन्तरिक विकास में भी एक क्रम है। वंश-परम्परा से प्राप्त गुणों और भौतिक, सामाजिक वातावरण की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक गुणों का विकास होता है। इस क्षेत्र में जैसे सामान्य विधान से काम होता है, उसी प्रकार आन्तरिक जीवन एक वैज्ञानिक विधान के क्रम से विकसित होता है। उस वैज्ञानिक क्रम पर विचार करने से पहले उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का प्रतिपादन आवश्यक है।

आज व्यक्ति की समस्या क्या है ? शारीरिक और मानसिक योग्यताओं का कितना भी विकास क्यों न हो जाए, वह रहता है सीमित ही। व्यक्ति में संकल्प उठते हैं। उनकी पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख सहना ही पड़ता है। पर सुख-दुःख के प्रलोभन एवं भय से युक्त सीमित जीवन किसी भी व्यक्ति को अभीष्ट नहीं है। जीवन में माँग है जीवन की, सामर्थ्य और नित-नव रस की । सुख-दुःख से अतीत भी कोई जीवन है, इसका पता हो या न हो, पर भीतर से उसकी माँग मानव मात्र में है। अमरत्व, स्वाधीनता और सरसता की बात मस्तिष्क के चेतन स्तर पर हो अथवा न हो, परन्तु दैनिक जीवन की व्यावहारिक चेष्टाएँ हमारी मौलिक माँग की ओर संकेत करती हैं। प्रकृति में कोई सुन्दर दृश्य दिखाई दिया, जीवन में कोई असाधारण घटना घटित हुई, हृदय में कोई तीव्र भाव उठा, हम उनको मूर्ति-कला, चित्र-कला और काव्य-कला-कृतियों द्वारा स्थायित्व देने का

प्रयास करते हैं। मकान बने तो इतना दृढ़ कि ढह न जाय, अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह हो तो इतना कि घट न जाय, शारीरिक स्वास्थ्य हो तो ऐसा कि कभी रोग न आवे, सामर्थ्य हो तो इतनी कि जो चाहें सो कर डालें और प्यार मिले तो ऐसा जो कभी घटे नहीं, और प्रिय मिले तो ऐसा जिससे कभी वियोग न हो। ये सारी चेष्टाएँ सहज भाव से प्रत्येक मनुष्य में होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अमर जीवन, परम स्वाधीनता और अनन्त रस की प्राप्ति से पहले मानव सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

असन्तोष से पीड़ित होकर व्यक्ति जीवन की खोज करता है। तब उसका नाम पड़ता है साधक। साधक के जीवन की व्याख्या करने पर उसमें तीन बातें मिलती हैं—(1) जगत् की कामना, (2) सत्य की जिज्ञासा, (3) प्रियता की लालसा। कामना मिटती है, जिज्ञासा पूरी होती है, प्रियता अभिव्यक्त होती है। व्यक्ति का अहम् गलकर योग, बोध और प्रेम से अभिन्न हो जाता है।

विकास की इस सीमा तक पहुँचने से पहले साधक के जीवन में से अभाव का अभाव नहीं होता। अभाव का भाव मिटाकर परम स्वाधीनता तथा नित-नव रस से परिपूर्ण नित्य जीवन से अभिन्न होने के लिए साधन की आवश्यकता है।

कामना, जिज्ञासा और प्रिय-लालसा से युक्त सीमित अहम्-भाव वाले साधक का जीवन बदलकर अमरत्व, स्वाधीनता और नित-नव-रस-युक्त हो जाए, इसका क्रम वैज्ञानिक (Scientific Process) है। इस वैज्ञानिक क्रम को न जानने के कारण साधक के अधिकांश समय और शक्ति का अपव्यय होता है। इसी वैज्ञानिक क्रम के आधार पर साधकों की समस्या को हल करने के लिए **"सत्संग और साधन"** पुस्तक लिखी गई है।

साधक के जीवन का क्रम है—

(1) अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर विचार करना।

(2) अपनी माँग का पता लगाना।

(3) विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(4) सभी दोषों के मूल में असत् के संग को जानना।

(5) जाने हुए असत् के संग का दृढ़ निश्चयपूर्वक त्याग।

(6) असत् के संग के त्याग से तज्जनित असाधन का स्वत: नाश।

(7) असाधन के नाश से साधन की अभिव्यक्ति।

(8) साधक की साधन-तत्त्व से अभिन्नता।

(9) जीवन की पूर्णता।

इस प्रकार साधन के आरम्भ से लेकर जीवन की पूर्णता तक नौ बातें मुझे मालूम होती हैं। इस क्रम से चलने पर सफलता अवश्यम्भावी है।

परन्तु साधकों से यह भूल होती है कि इस क्रम को जाने बिना ही विध्यात्मक साधन आरम्भ कर देते हैं। अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर विचार नहीं करते, अपनी माँग का स्पष्ट ज्ञान उन्हें नहीं होता, अपने जीवन में से असत् का त्याग नहीं करते और असाधन के रहते हुए विध्यात्मक साधन अपनाकर बैठ जाते हैं।

वैज्ञानिक क्रम के अनुसार उपर्युक्त पाँचवें सोपान पर आकर साधक का दायित्व समाप्त है। जाने हुए असत् के संग का त्याग करते ही असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। पर हम ऐसा नहीं करते हैं। जो करने से होगा उसे करते नहीं हैं और जो स्वत: होने वाला है, उसमें श्रम लगाते हैं। इस विपरीत क्रम से चलने के कारण आज संसार में साधकों की बड़ी दुर्दशा है। इस व्यथा से व्यथित होकर इस पुस्तक में सत्संग और साधन का विभाजन कर यह दिखाया गया है कि सत्संग किया जाता है और साधन होता है।

अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर विचार करने से अपनी दशा का परिचय मिलता है, अपनी माँग का पता लगता है। अपने ही विवेक द्वारा

निरीक्षण करने पर अपने में असाधनों का दर्शन होता है। जैसे—जीवन में दीनता और अभिमान दिखाई देते हैं। वस्तुओं के लोभ और व्यक्तियों के मोह से पीड़ा होती है। अपने दुःख का कारण दूसरे प्रतीत होते हैं। अपने प्रति भलाई की माँग होने पर भी हम दूसरों के प्रति बुराई कर बैठते हैं। किसी को अपना, किसी को पराया, किसी को मित्र और किसी को शत्रु मानकर हम राग-द्वेष की अग्नि में जलते हैं। संकल्पों की पूर्ति-जनित सुख की लोलुपता में पड़ कर हम अकरणीय कर्म करते हैं तथा रोग, शोक, काम, क्रोध आदि विकारों से युक्त होते हैं। यह जीवन के कतिपय असाधन हैं, जिन्हें साधक स्वयं जानता है। अनेक प्रकार के असाधन, जो जीवन में दिखाई देते हैं और जिनके कारण क्षणिक सुख एवं दीर्घकाल के लिए हमें दुःख मिलता है, उन पर विचार करने से पता लगता है कि समस्त असाधनों का मूल असत् का संग है।

असत् के संग को मुख्य तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) विवेक-विरोधी कर्म

(2) विवेक-विरोधी विश्वास

(3) विवेक-विरोधी सम्बन्ध

विवेक-विरोधी सम्बन्ध का अर्थ है ऐसा सम्बन्ध जो सुरक्षित नहीं रह सकता। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति से सम्बन्ध विवेक-विरोधी सम्बन्ध है, क्योंकि ये अनित्य हैं, उत्पत्ति-विनाशयुक्त हैं, परिवर्तनशील एवं पर-प्रकाश्य हैं। प्रति दिन का अनुभव हमें यह बताता है कि इनसे हमारा नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी भी क्षण इनका वियोग हो जाता है, अपना कोई वश नहीं चलता। हम चाहते हैं कि शरीर सुरक्षित बना रहे, पर देखते हैं कि इसका नाश होता है। हम चाहते हैं कि सामर्थ्य, योग्यता, सुख और सम्पत्ति अक्षय रहें, पर इनका क्षय होता ही है। हम चाहते हैं कि अनुकूल परिस्थितियाँ बनी रहें पर वे बदलती ही हैं।

अनुकूलता चली जाती है और हम व्यथित होकर कह उठते हैं—हाय, जो चाहते हैं सो होता नहीं है, जो होता है सो भाता नहीं है और जो भाता है सो रहता नहीं है। फिर भी हम वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थितियों से सम्बन्ध बनाए रखते हैं, यह विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। यह असत् का संग है, जिसे साधक स्वयं जानता है।

विवेक-विरोधी विश्वास का अर्थ है वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, अर्थात् प्रतीति में सत्यता एवं सुन्दरता का भास। प्रतीति पर विश्वास करके हमें बार-बार धोखा खाना पड़ता है। प्रियजनों का वियोग हो जाता है। उनका सहारा टूटता है तो धन-सम्पत्ति का आश्रय लेते हैं। वह भी छूटता है तो शरीर, व्यक्तित्व आदि का आश्रय लेते हैं। प्रत्येक साधक का यह अपना अनुभव है कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थिति नित्य नहीं है। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इन पर विश्वास करने वालों को धोखा मिलता ही है। इनके वियोग का दुःख सहना ही पड़ता है अर्थात् इनका विश्वास विवेक-विरोधी विश्वास है। ऐसा विश्वास जीवन में रखकर आज तक कोई चैन से नहीं रह पाया। इनका संयोग हो जाए तो जड़ता आए, वियोग हो जाए तो मोह सताए। यह विवेक-विरोधी विश्वास असत् का संग है।

विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी विश्वास रहने पर विवेक विरोधी कर्म भी होता है। विवेक-विरोधी कर्म का अर्थ है वह कर्म जिसमें अपने विवेक का समर्थन न हो। जैसे—हम सब लोग जीना चाहते हैं, अपनी हिंसा हमें प्रिय नहीं है। फिर भी हम दूसरे प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, तो इस कर्म में अपने विवेक का समर्थन नहीं है। अपने प्रति दूसरों के द्वारा भलाई की आशा रखते हुए भी हम दूसरों की बुराई में प्रवृत्त होते हैं। अपने अधिकार की रक्षा हम चाहते हैं, पर दूसरों के अधिकार की रक्षा नहीं करते। विवेक-विरोधी कर्म के ये कुछ उदाहरण

हैं। यह भी साधक का अपना जाना हुआ असत् है, जिसके संग से अनेक असाधन उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार स्वयं अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन कर लेने के बाद साधक जान सकता है कि उसके जीवन में असत् का संग है, जो सभी असाधनों का मूल है।

असत् के संग को जान लेने के बाद साधक पर यह दायित्व आता है कि वह जिस असत् को जान सके उसका उसी समय पूरी दृढ़ता के साथ त्याग कर दे। यह साधनयुक्त जीवन का आरम्भ है। यह साधक का परम पुरुषार्थ है और है यह प्रयास का अन्तिम चरण। इसके बाद कोई श्रम शेष नहीं रहता। साधक का दायित्व पूरा हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर से प्रतीति के पीछे दौड़-दौड़ कर थका हुआ साधक विश्राम पाता है।

असत् के संग का त्याग करते ही असाधनों की जड़ कट जाती है। जीवन के सभी असाधन एक साथ निर्जीव हो जाते हैं। तब असाधन-रहित जीवन में विध्यात्मक साधन की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न करा देती है। साधन-तत्त्व से अभिन्नता साधन की पूर्णता है। यहाँ आकर कामना, जिज्ञासा और प्रियता की लालसा से युक्त साधक का जीवन विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम से परिपूर्ण हो कृतकृत्य हो जाता है।

परन्तु एक बात है—असत् के संग का त्याग है बड़ी कड़वी घूँट। अहम् के नाश की तैयारी है। फाँसी की सजा है। इसका प्रश्न सामने आते ही अहम् से आवाज उठती है—"रूप, गुण, ज्ञान, विज्ञान एवं ललित कलाओं से सुसज्जित व्यक्तित्व को लेकर जगत् में विचरने का जो रस है क्या उसे छोड़ दूँ ? नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता। जब यह सब छिन जाएगा तब देखा जाएगा। अभी भी प्रतिपल छीज रहा है, फिर भी रस

की अन्तिम बूँद जब तक अवशेष रहेगी, तब तक इसे न छोड़ूँगा"। परन्तु उधर काल-चक्र सिर पर नाच रहा है, उस ओर से भी आँखें बन्द नहीं कर सकते। तब क्या करें ? तब तीर्थ-यात्रा, ग्रन्थ-पाठ, भजन, कीर्तन, जप, ध्यान आदि के रूप में साधन आरम्भ कर देते हैं। "भोग का नहीं तो संयम का ही सही, गृहस्थी का नहीं तो फकीरी का सही, राग का नहीं तो वैराग्य का ही सही, रस नहीं छोड़ूँगा, व्यक्तित्व का मोह नहीं तोड़ूँगा।" साधक की सबसे बड़ी भूल यही है। असाधन को रखकर साधन की बात सोचना, साधन के रूप में असाधन है। परन्तु किया क्या जाए ? आज की वस्तुस्थिति यही है। इसलिए यह सुनाई देता है कि साधन में मन नहीं लगता। साधन समझ में आता है, पर जीवन में उतरता नहीं है। साधन करना चाहते हैं, पर होता नहीं है।

कुछ साधक असाधन के रहते हुए बलपूर्वक साधन करने का प्रयास करते हैं। वे नहीं जानते हैं कि जाने हुए असत् का त्याग किये बिना असाधन का नाश नहीं होगा और असाधन के रहते हुए साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी। इस कारण उनके जीवन में साधन का निर्माण नहीं होता। कुछ साधक यह जानते हैं कि असाधन के साथ साधन नहीं बनेगा। परन्तु असाधन के मूल, असत् के संग का रहस्य वे नहीं जानते हैं। इसलिए असत् के संग के रहते हुए असाधन मिटाने का प्रयास करते हैं, बहुत श्रम लगता है। एक असाधन छूटता है, दूसरा उत्पन्न होता है, क्योंकि असाधन का मूल उपस्थित है। इसलिए वे सफल नहीं होते और कुछ साधक असत् को जानकर भी तज्जनित सुख का त्याग नहीं करते, अथवा कर नहीं पाते, इसलिए असफल होते हैं। साधक की ऊँची से ऊँची दशा तक व्यक्तित्व के मोहरूपी असत् का संग रहता है, जो जीवन को पूर्ण नहीं होने देता। अतएव असत् के संग का त्याग किये बिना साधन और सिद्धि कभी भी सम्भव नहीं है यह निर्विवाद सिद्ध है।

साधक को यदि साधन में स्वाभाविकता लाकर अपने लक्ष्य से अभिन्न होना है तो उसे असत् के संग का त्याग करना ही है। विष का यह प्याला पीकर जीवन में ही मरण को वरण करना है। जो यह करने को तैयार न हो, उसे वर्तमान में विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम पाने की आशा नहीं रखनी चाहिए।

असत् का संग भी नहीं छोड़ेंगे और साधन भी करेंगे—इससे दो बड़ी हानियाँ होती हैं। एक तो अपना विकास रुका रहता है, हीन परिज्ञान सताता है। दूसरे, नवागन्तुक साधक भ्रमित होता है। निष्ठा है प्रभु-प्रेम की, पर जीवन में नीरसता है, निष्ठा है तत्त्व-साक्षात्कार की, पर जीवन में से परिच्छिन्नता का नाश नहीं हुआ, स्वाधीनता अभिव्यक्ति नहीं हुई, निष्ठा है विश्व-प्रेम की, पर जीवन में कर्त्तव्य-परायणता नहीं है। इस प्रकार अधूरे निष्ठावान जीवन से अपने को सन्तोष नहीं होता और नवागन्तुक साधन-पथ से भटक जाता है। दोहरी क्षति होती है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को इस प्रकार क्षति पहुँचाना सर्वथा अनुचित है। आज मानव-समाज में ईश्वरवाद और अध्यात्मवाद के प्रति जो घोर विरोधी प्रतिक्रिया हो रही है, इन साधन-प्रणालियों पर से आधुनिक युग की आस्था मिटती जा रही है, इसमें अधूरे निष्ठावान जीवन का बहुत बड़ा प्रभाव है। परन्तु साधन-युक्त हुए बिना जीवन में जीवन की अभिव्यक्ति भी असम्भव है। अत: इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए भटकती हुई पीढ़ी को राह पर लाने के लिए असत् के संग का त्याग अनिवार्य है। इसी रहस्य को बताने के लिए **"सत्संग और साधन"** का प्रकाशन हुआ है।

वस्तुत: जो साधक इस रहस्य को जाने बिना दलदल में फँसे हुए हैं, उन्हें इस दलदल से निकालने के लिए **"सत्संग और साधन"** से बड़ी सहायता मिलेगी, क्योंकि असत् के संग का त्याग करने के बाद और कुछ भी करना शेष नहीं रहता। उसके बाद के सभी क्रम स्वत: होने लगते

हैं। साधन का बोझा ढोना नहीं पड़ता। कोई भी साधन क्यों न हो, जिसकी साधक को आवश्यकता होती है, उसकी अभिव्यक्ति स्वत: होती है। अत: जो करना है उसे कर चुकने पर, जो होना है वह स्वत: होता है। जैसे—खेत में बीज डाल देने पर पौधा स्वत: उगता है और उसमें फूल-फल लगते हैं, उसी प्रकार असाधन-रहित जीवन में साधन की अभिव्यक्ति होती है। स्वत: अभिव्यक्त साधन में स्वाभाविकता और सजीवता आती है। उससे साधन और जीवन की एकता होती है। फिर साधक, साधन और साधन-तत्त्व एक हो जाते हैं। जीवन पूर्ण होता है। इस दृष्टि से सत्संग और साधन का विभाजन अनिवार्य है।

विश्व-जीवन की समस्या को हल करने के लिए भी सत्संग और साधन को विभाजित करके देखना आवश्यक है। व्यक्तिगत भिन्नता पर आधारित साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। परन्तु असत् के संग के कारण सत् से दूरी एवं असत् के त्याग से सत् का संग मानव-मात्र के लिए समान है। रुचि और योग्यता एवं परिस्थिति के अनुकूल साधन अपनाने से पूर्व यह परम आवश्यक (Compulsory Step) है। पैगम्बर मुहम्मद का ईश्वर-विश्वास, महात्मा ईसा की क्षमाशीलता, चैतन्य महाप्रभु का नाम-महा-संकीर्त्तन, प्रेम-दिवानी मीरा का निर्बन्ध प्रेम, महात्मा बुद्ध का वैराग्य, शबरी का सरल विश्वास आदि-आदि व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर आधारित विभिन्न साधन-प्रणालियाँ हैं। फिर भी सबके मूल में एक सामान्य तथ्य (Common Factor) है असत् के संग का त्याग।

मीराजी ने सरल विश्वासपूर्वक गिरिधरलाल को अपना पति मान लिया। इस एक विश्वास को छोड़कर और कोई विश्वास उन्होंने अपने जीवन में नहीं रखा। बुद्ध ने दु:ख-निवृत्ति को जीवन माना और आरम्भ में ही "हे क्षणभँगुर भव, राम राम" कह दिया।

एक ने विश्वास-पथ अपनाया, दूसरे ने विचार-पथ, पर दोनों को असत् के संग का त्याग करना ही पड़ा। पति-पुत्र, राज-पाट और धन-धाम

आदि का विश्वास रखते हुए मीराजी नहीं कह सकती थीं कि "माई मैंने गोविन्द लीनो मोल।" अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्यपूर्ण जो है वह मीराजी के हाथ बिक नहीं सकता था। यदि राजकुमार सिद्धार्थ राज्य के सुख-वैभव, यशोधरा के रूप-लावण्य, युवावस्था की मोहकता को नहीं छोड़ते, इससे भी आगे बढ़कर तप का सहारा नहीं तोड़ते तो निर्वाण-पद प्राप्त नहीं होता। महात्मा ईसा प्रभु-विश्वास पर प्राण न्यौछावर नहीं करते तो शरीर छूटने से पहले यह नहीं कह सकते थे कि—"मैं और मेरा बाप एक है।"

अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि सत्य की खोज करने वालों का प्रवेश शुल्क है असत् के संग-जनित सुख के प्रलोभन का त्याग। सत्य के पुजारी, प्रभु-प्रेम के भिखारी को असत् किसी रूप में बाँध नहीं सकता। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, कुटुम्ब, समाज, पद, मान और योग्यता जो कुछ मिला हुआ प्रतीत होता है सबको प्रथम चरण में ही जीवन की माँग के आहुति-कुण्ड में होम कर देना पड़ता है। इस अर्थ में साधक मात्र समान हैं। असत् का संग रखते हुए आज तक न कोई सत्य से अभिन्न हुआ और न होगा, यह सार्वभौम विधान (Universal Law) है। यह जीवन विज्ञान है।

इस तरह जीवन के आरम्भ में साधक-मात्र एक है। इसमें देश, काल, धर्म, सम्प्रदाय आदि का भेद नहीं है। जन्म-तिथि को मैं जीवन का आरम्भ नहीं मानती हूँ। सुख-दु:ख-युक्त सीमित जीवन के प्रति मानव में जिस दिन सन्देह पैदा होता है अथवा किसी अनजान देश से आए हुए प्रेम के मौन निमन्त्रण का आभास मिलता है अथवा क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी का दु:ख जिस दिन हृदय में टीस मारता है उस दिन से मैं जीवन का आरम्भ मानती हूँ। इस आरम्भ में मानव-मात्र एक है। सन्देह की वेदना, प्रियता की लालसा अथवा विश्व-बन्धुत्व का भाव जिस जीवन की ओर इंगित

करता है उस जीवन में प्रवेश पाने की पहली और अन्तिम शर्त है असत् के संग का त्याग अर्थात् असाधन-जनित सुख के प्रलोभन का त्याग, जो साधक-मात्र के लिए समान रूप से अनिवार्य है।

इस दायित्व को पूरा करते ही प्रत्येक साधक को अलग-अलग साधन-पथ मिलते हैं, जिस पर साधक का जीवन नदी की धारा के समान सागर की ओर स्वाभाविक गति से बिना ही श्रम के प्रवाहित होने लगता है। असत् के संग का त्याग करते ही साधक के जीवन में साधन की अभिव्यक्ति भी होती है और वास्तविकता से अभिन्न हो जाने की निश्चिन्तता भी मिलती है। असाधन-रहित जीवन में रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार पथ भी मिलता है और आवश्यक पाथेय भी मिलता है। साधन-युक्त जीवन में प्रवेश पाने के प्रवेश-शुल्क की बड़ी महिमा है। यह आवश्यक नहीं है कि शुल्क में जो कुछ दिया जाए, वह बहुत बढ़िया हो। अस्वस्थ शरीर, शक्तिहीन इन्द्रियाँ, कुंठित बुद्धि, दूषित संस्कार, काला अदृष्ट, टूटा घर, निष्ठुर परिवार—जिनसे रस लेने को दौड़-दौड़कर आप थक गए, जो कभी आपकी पकड़ में नहीं आए, जिनके सम्बन्ध और विश्वास के कारण जीना भार-स्वरूप हो गया, उन्हीं से सम्बन्ध-विच्छेद करना है। बढ़िया-घटिया का प्रश्न नहीं है। वस्तु के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसी से सम्बन्ध-विच्छेद कीजिए, सत् का संग हो जाएगा। असत् कभी किसी का साथ नहीं देता है, पर उसका प्रलोभन मानव को जीवन से विमुख किए रहता है। इसलिए ज्ञान के प्रकाश से जगमगाता हुआ, परम स्वाधीन और प्रेम-रस से सराबोर जीवन जिसे चाहिए उसको अपने जाने हुए असत् का त्याग करना ही होगा। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन और पारसी आदि सभी समान हैं। ऐसा नहीं है कि हिन्दू को असत् के त्याग करने से सत् मिलता हो और बौद्ध या ईसाई को असत् का संग रखकर सत् मिलता हो अथवा बीसवीं शताब्दी में साधकों को असत् के सङ्ग का त्याग करना पड़ता हो और दूसरे युग में

यह अनिवार्य न हो। सब काल में, सब देश में, सभी साधकों को असत् के सङ्ग का त्याग करके ही सत्संग प्राप्त हुआ है। यह त्रिकालाबाधित सत्य है।

इस प्रकार असत् के सङ्ग के त्याग द्वारा सत्संग और साधन में विभाजन करने की धारणा आवश्यक एवं उपयोगी है; यह भिन्नता में एकता की स्थापना करने वाली है। साधन की पृष्ठभूमि में हम सब एक साथ हैं और साधन की पूर्णता में भी हम सब एक हैं। कहीं अखण्ड समाधि, कहीं अगाध प्रेम, कहीं तीव्र वैराग्य और कहीं निष्काम सेवा-भाव के रूप में जो भिन्न-भिन्न साधन-पथ दिखाई देते हैं, वे विश्व की शोभा हैं। सबकी पृष्ठभूमि असत् के संग का त्याग और सबकी परावधि विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम में है, जो मानव-मात्र के बीच अविच्छिन्न एकता का समर्थक है।

इस रहस्य को जाने बिना ही दार्शनिक दृष्टिकोण की भिन्नता और साधन-प्रणालियों की विविधता को देखकर हम परस्पर मौलिक भिन्नता मान लेते हैं। साम्प्रदायिकता और मत का आग्रह लेकर जीवन की प्राप्ति से दूर हो जाते हैं। साधक के पथ की इस दुर्गम घाटी को पार करने के लिए सत्संग और साधन को विभाजित कर लेना आवश्यक है।

एक साधन सभी साधकों के लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि सबकी बनावट एक दूसरे से भिन्न है। एक साधक के लिए सभी साधन असम्भव एवं अनुपयोगी हैं। असम्भव इसलिए कि शक्ति, योग्यता और समय सीमित है, अनुपयोगी इसलिए कि किसी भी एक साधन की पूर्णता में जीवन की पूर्णता स्वतःसिद्ध है। इसलिए प्रत्येक साधक के लिए अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार कोई एक साधन उपयुक्त होता है, जो उसे विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम से अभिन्न करा देता है। माँग सबकी एक है। दायित्व सब पर एक है। साधन सबका अलग-अलग है। पर साधन की पूर्णता में फिर सभी एक हैं।

जब गन्तव्य स्थल सबका एक ही है तो फिर पथ की भिन्नता के कारण संघर्ष क्यों ? विश्व-रचयिता की विविध रूप-रचना का सौन्दर्य देखकर आनन्द और उल्लास क्यों नहीं ? अवश्य होना चाहिए। सत्संग और साधन के विभाजन के बाद दार्शनिक दृष्टिकोण एवं साधन की भिन्नता होते हुए भी परस्पर प्रेम सुरक्षित रह सकता है, जो साधक के लिए अपने कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण के लिए महामन्त्र है।

मैं साधक के स्तर से इस पुस्तक को देख रही हूँ। मेरी दृष्टि अपरिच्छिन्न नहीं है। इसलिए मेरी दृष्टि एकांगी हो सकती है। मेरा शब्द-चयन सदोष हो सकता है। मैं पुस्तक के महत्त्व को ठीक-ठीक नहीं आँक सकी हूँ। अत: जितना मैंने समझा है, उससे कहीं अधिक इस पुस्तक का महत्त्व है। उदार पाठक खुली दृष्टि और उन्मुक्त विचार से पुस्तक को पढ़ें। उन्हें अधिकाधिक महत्त्व का दर्शन होगा।

गीता भवन
ऋषिकेश
25 जून, 1959

विनीता—
**देवकी**

: 2 :

# असत् का त्याग : साधन की अभिव्यक्ति

अपने जाने हुए असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति हुई है। यद्यपि असाधन की माँग जीवन में नहीं है परन्तु सत्संग और साधन का भेद स्पष्ट रूप से विदित न होने के कारण साधक उत्पन्न हुए असाधन को बलपूर्वक, किए हुए साधन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते हैं, पर सफल नहीं होते। इस महत्त्वपूर्ण समस्या को हल करने के लिए सत्संग और साधन के भेद का बोध अनिवार्य है।

साधक अपने जाने हुए असत् से अपरिचित नहीं है। असत् को असत् जान लेने पर भी उसका संग करना साधक का अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए हुए दोष को मिटाने का दायित्व किसी अन्य पर नहीं हो सकता। अतः असत् के त्याग द्वारा सत् का संग करने का दायित्व पूरा करना परम आवश्यक है। असत् का त्याग और सत् का सङ्ग उसी प्रकार युगपद् है जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति। असत् को असत् जिससे जानते हैं उसी से असत् के त्याग का निर्णय कर सकते हैं। असत् के त्याग का निर्णय ही असत् के त्याग का साधन है। असत् का त्याग और सत् का सङ्ग एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। अन्तर केवल इतना है कि असत् का त्याग पुरुषार्थ है और सत् का सङ्ग स्वतः सिद्ध है। असत् के त्याग के अतिरिक्त सत्संग के लिए कोई अन्य प्रयास अपेक्षित नहीं है। केवल असत् के त्याग मात्र से ही सत्संग हो जाता है, जिसके होते ही उत्पन्न हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति

स्वत: होती है। असाधन के नाश और साधन की अभिव्यक्ति में साधक का पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं है। केवल जाने हुए असत् के त्याग में ही साधक के प्रयास की पूर्णता है। किन्तु बेचारा साधक प्रमादवश सत्सङ्ग और साधन के भेद को बिना जाने उत्पन्न हुए असाधन को भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों द्वारा बलपूर्वक मिटाने का प्रयास करता है। विधान के अनुसार, असत् का सङ्ग करते हुए सतत रूप से असाधन उत्पन्न होते ही रहते हैं और साधक बलपूर्वक साधन करता ही रहता है। बलपूर्वक किया हुआ साधन असाधन को दबा देता है, उसे मिटा नहीं पाता। इतना ही नहीं, साधक साधन करने का मिथ्या अभिमान और कर बैठता है, जो बड़ा ही भयंकर असाधन है। इस समस्या का हल तभी सम्भव है जब साधक उत्पन्न हुए असाधन के नाश और साधन की अभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर निज विवेक के प्रकाश में विचार करे और अपने जाने हुए असत् के त्याग के लिए अथक प्रयत्नशील बना रहे। असत् का त्याग होने पर असाधन का नाश अपने-आप हो जाता है। असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् है।

कारण का नाश होने पर भी कार्य की प्रतीति होती है। जिस प्रकार वृक्ष का मूल कट जाने पर भी उसकी हरियाली कुछ काल प्रतीत होती है उसी प्रकार असत् का त्याग करने पर भी असत् के सङ्ग के प्रभाव को कुछ काल साधक अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में देखता है और भयभीत हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने किए हुए असत् के त्याग में भी विकल्प कर बैठता है। असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है, परन्तु उसके प्रभाव के नाश में काल अपेक्षित है। अपने निर्णय में विकल्प करना भी तो असत् का ही संग है। जब साधक सावधानीपूर्वक अपने निर्णय में विकल्प नहीं करता तब अपने-आप असत् के सङ्ग का प्रभाव नष्ट हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो सर्वांश में असत् का त्याग करने में सर्वदा तत्पर हैं।

असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति और सत् के संग से साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। मंगलमय विधान के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश और जिसकी अभिव्यक्ति होती है उससे अभिन्नता स्वाभाविक है। कोई भी साधक सर्वांश में असत् का संग नहीं कर सकता, किन्तु सर्वांश में सत् का संग हो सकता है। जब सर्वांश में असत् का संग हो ही नहीं सकता तब सर्वांश में असाधन सम्भव नहीं है। इसी कारण प्रत्येक साधक के जीवन में आंशिक असाधन रहता है और सर्वांश में साधन की माँग रहती है। इस दृष्टि से असाधन का नाश और साधन से अभिन्नता अनिवार्य है।

समस्त साधन विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम में ही विलीन होते हैं। अत: इन तीनों का सम्पादन सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। आंशिक साधन से किसी भी साधक को सन्तुष्टि नहीं होती, किन्तु आंशिक असाधन प्रत्येक साधक को क्षुब्ध रखता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक की माँग सर्वांश में असाधन के नाश की है। सर्वांश में असाधन का नाश होते ही सर्वांश में साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। सर्वांश में असाधन का नाश तभी सम्भव होगा जब साधक अपने जाने हुए असत् का सर्वांश में त्याग करे। अपने जाने हुए असत् के त्याग में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है। असाधन-जनित सुख-लोलुपता और आंशिक साधन का अभिमान असत् के सङ्ग को पोषित करते हैं। आंशिक साधन का अभिमान गल जाने पर असाधन-जनित सुख-लोलुपता अपने-आप मिट जाती है। आंशिक साधन का अभिमान अहम्-रूपी अणु को पुष्ट करता है, जिससे बेचारा साधक असाधन-जनित सुखलोलुपता का त्याग नहीं कर पाता। प्राकृतिक विधान के अनुसार अहम्-रूपी अणु में असाधन का बीज भी है और साधन की माँग भी। "पराधीनता में जीवन-बुद्धि" यही असाधन का बीज है। "स्वाधीनता में स्वाभाविक प्रियता" यही साधन की माँग है। "पराधीनता में जीवन-बुद्धि" क्या साधक

का अपना जाना हुआ असत् नहीं है ? अवश्य है। स्वाधीनता की माँग रहते हुए पराधीनता को सहन करते रहना क्या साधक का अपना प्रमाद नहीं है ? स्वाधीनता-सम्पादन में कोई परिस्थिति अपेक्षित नहीं है। जिसकी प्राप्ति किसी परिस्थिति से साध्य नहीं है उसकी प्राप्ति के लिए क्या किसी श्रम की अपेक्षा है ? कदापि नहीं। पराधीनता का असह्य होना ही स्वाधीनता की उत्कट लालसा को जाग्रत करने में समर्थ है। पराधीनता के रहते हुए न तो जड़ता का ही नाश होता है और न अभाव का अभाव। इस दृष्टि से पराधीनता का अन्त करना अनिवार्य है।

पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है, क्योंकि किसी भी साधक को पराधीनता प्रिय नहीं है। जिसमें स्वाभाविक प्रियता न हो उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना असत् का संग है। प्रत्येक साधक के जीवन में वास्तविक जीवन की माँग है। वास्तविक जीवन वही है, जिसमें अभाव तथा अप्रियता की गन्ध भी न हो, अपितु नित-नव प्रियता तथा अभाव का अभाव हो। जिसमें अभाव का अभाव है वह अविनाशी है। इस दृष्टि से जीवन अविनाशी है। अविनाशी जीवन सभी साधकों को नित्य प्राप्त है, किन्तु असत् के सङ्ग से अप्राप्त-सा प्रतीत होता है। असत् के सङ्ग का त्याग करते ही नित्य-प्राप्त में अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है।

नित्य प्राप्त की प्राप्ति श्रम-साध्य नहीं है, अपितु चिरविश्राम से ही साध्य है। श्रम का मूल असत् का सङ्ग है, कारण कि असत् के सङ्ग से ही काम की उत्पत्ति होती है। क्या काम के रहते हुए किसी भी साधक को विश्राम सम्भव है ? कदापि नहीं। सर्वांश में असत् का त्याग करते ही सभी साधकों की विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्नता हो सकती है, जो सर्वांश में साधन की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से साधक पर एकमात्र अपने जाने हुए असत् के त्याग का दायित्व है।

: 3 :

# अकर्त्तव्य का नाश : कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति

असत् के सङ्ग से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और उसके त्याग से कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। विवेक-विरोधी कर्म अपना जाना हुआ असत् है। उससे ही साधक के जीवन में अकर्त्तव्य की उत्पत्ति हुई है। अकर्त्तव्य की उत्पत्ति में ही कर्त्तव्य की विस्मृति निहित है। कर्त्तव्य की विस्मृति से ही अकर्त्तव्य पोषित होता है। कर्त्तव्य की स्मृति जाग्रत करने के लिए विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है। विवेक-विरोधी कर्म के साथ-साथ किया हुआ आंशिक कर्त्तव्य कर्म साधक को मिथ्या अभिमान में ही आबद्ध करता है। इस दृष्टि से असत् का त्याग किए बिना आंशिक कर्त्तव्य भी अकर्त्तव्य के रूप में ही परिणत हो जाता है। अत: कर्त्तव्य कर्म के आरम्भ से पूर्व विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी कर्म का त्याग सत्संग और कर्त्तव्य-परायणता साधन है। विधान के अनुसार सत्संग करने पर साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। अत: अकर्त्तव्य का नाश तथा कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति के लिए साधक को सत्संग करना अनिवार्य है।

सत्संग करने पर साधन स्वत: होता है। जो स्वत: होता है वही जीवन है। इस दृष्टि से साधन साधक के जीवन से भिन्न नहीं है, अपितु साधन ही जीवन है। साधन का जीवन से विभाजन सम्भव नहीं है। साधन और जीवन में जो भेद प्रतीत होता है वह एकमात्र असत् के संग का ही

परिणाम है। असत् के संग के त्याग में ही साधक के प्रयास की पूर्णता है। असत् के संग का त्याग करने पर साधक को कुछ भी करना शेष नहीं रहता। करने के अन्त में ही चिर-विश्राम निहित है। विश्राम साधन है और असत् का त्याग सत्संग है। विश्राम की प्राप्ति है। उसका त्याग नहीं हो सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता उसी में जीवन है। अकर्त्तव्य ने ही विश्राम को आच्छादित किया है। असत् के संग से ही अकर्त्तव्य का जन्म हुआ है। अकर्त्तव्य का अन्त करने के लिए साधक को असत् का त्याग कर सदा के लिए विश्राम से अभिन्न होना है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को असत् के त्याग के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं करना है। सत् के सङ्ग से साधन स्वत: होने लगता है। करने का अन्त प्रिय है, करना प्रिय नहीं है। करने की आसक्ति रहते हुए साधक यह रहस्य जान नहीं पाता। यदि करना है तो केवल असत् का त्याग। जो स्वत: होने लगता है, वह समष्टि शक्तियों के अधीन है। जो किया जाता है वह मिली हुई शक्तियों का उपयोग है। प्रत्येक साधक को प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् का त्याग करना है। जाने हुए असत् का त्याग करते ही अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश हो जाता है। अकर्त्तव्य के नाश में कर्त्तव्य की, असाधन के नाश में साधन की और आसक्तियों के नाश में प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जाने हुए असत् का त्याग ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता को अपना मानना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् के सङ्ग से ही विकारों की उत्पत्ति होती है। विकारयुक्त जीवन की माँग न तो साधक को ही है और न जगत् को। इस दृष्टि से असत् का संग करने से जीवन न अपने लिए उपयोगी है और न जगत् के लिए। अत: जीवन की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए सत्संग द्वारा साधन का निर्माण परम आवश्यक है।

साधन ही साधक का अपना जीवन है, कारण कि साधन से ही साधक की अभिन्नता होती है और साधन ही साध्य का स्वभाव है। साध्य के स्वभाव में ही साध्य की अगाध प्रियता और साध्य की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का उपयोग कर्त्तव्य-पालन ही में है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध पर के प्रति और उसका परिणाम अपने प्रति होता है। कर्म-विज्ञान की दृष्टि से दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह विधान के अनुसार अपने प्रति स्वत: हो जाता है। मिले हुए की ममता का त्याग करते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, जिसके होते ही मिले हुए का सदुपयोग अपने आप होने लगता है। मिले हुए के सदुपयोग में ही कर्त्तव्य की पूर्णता है। कर्त्तव्य की पूर्णता में ही चिर-विश्राम है। इस दृष्टि से असत् के त्याग में ही साधन की अभिव्यक्ति है।

शरीर आदि वस्तुओं को अपना मानकर जो कुछ किया जाता है उससे साधन का निर्माण नहीं होता, अपितु मिथ्या अभिमान ही शेष रहता है, जो समस्त असाधनों का मूल है। असत् का त्याग किए बिना किसी भी प्रकार असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

मंगलमय विधान के अनुसार जिस किसी साधक की वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रूप में जो कुछ मिला है, वह वास्तव में व्यक्तिगत नहीं है। जो व्यक्तिगत नहीं है उसमें ममता करना अपना जाना हुआ असत् है। इस जाने हुए असत् के सङ्ग से ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति हुई। अकर्त्तव्य ने व्यक्ति और समाज में, शरीर और विश्व में, दो देशों, दो वर्गों और दो सम्बन्धियों में वास्तविक एकता सुरक्षित नहीं रहने दी और अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न कर दिए। इतना ही नहीं, बेचारे साधक को भी जड़ता तथा अभाव में आबद्ध कर दिया। मिली हुई वस्तु को व्यक्तिगत मानते रहने पर किसी प्रकार भी अकर्त्तव्य का अन्त सम्भव नहीं है। इस कारण कर्त्तव्यनिष्ठ साधक को मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की ममता

का अन्त करना अनिवार्य है। वस्तु, योग्यता आदि की ममता का त्याग करने पर उनके सदुपयोग में कोई कठिनाई नहीं होती, अपितु उनका सदुपयोग सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। ममता बनाए रखने से, जो कुछ मिला है वह सदैव रहेगा, यह भी सम्भव नहीं है। साधक जिन वस्तु आदि में ममता करता है वे सदैव नहीं रहतीं, किन्तु ममता का प्रभाव लोभ, मोह आदि विकारों के रूप में ही उसके हाथ लगता है, जिससे बेचारा साधक अनेक प्रकार के दोषों में आबद्ध हो जाता है। जीवन में माँग निर्दोषता की है, परन्तु ममता ने उसकी अभिव्यक्ति नहीं होने दी। अत: प्रत्येक साधक को कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए जाने हुए असत् का त्याग अनिवार्य है।

प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि की ममता से उत्पन्न हुई वस्तुओं में जीवन-बुद्धि हो जाती है, जिसके होते ही साधक में अप्राप्त वस्तुओं की कामना उत्पन्न होती है, जो उसे शान्त नहीं रहने देती। कामनाओं के रहते हुए विश्राम सम्भव नहीं है। विश्राम के बिना असमर्थता का अन्त नहीं होता। उसके हुए बिना कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से साधक को न तो प्राप्त वस्तु आदि में ममता ही करनी है और न अप्राप्त की कामना। कामना-रहित होने पर भी विधान के अनुसार आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता स्वत: प्राप्त होती है, तो फिर कामनाओं का साधक के जीवन में स्थान ही कहाँ है ? कामना-मात्र से यदि वस्तुएँ प्राप्त होतीं तब तो कामना का भी महत्त्व होता, किन्तु विश्व में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाएँ। इस दृष्टि से कामनापूर्ति साधक का उद्देश्य नहीं है। कामना-पूर्ति में जीवन-बुद्धि अपना जाना हुआ असत् है। अतएव उसका त्याग अनिवार्य है।

यह सभी साधकों को विदित है कि कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नवीन कामना को जन्म देता है। इस प्रकार प्रत्येक कामना की पूर्ति कामना-उत्पत्ति में ही हेतु है और विधान के अनुसार सभी कामनाएँ किसी की भी पूरी नहीं होतीं। इस दृष्टि से अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती

है, जो वास्तव में अभाव-रूप है। अभाव का अभाव साधक की अपनी माँग है। उस माँग की पूर्ति कामनाओं के नाश में ही निहित है। कामना-पूर्ति तथा अपूर्ति दोनों का उपयोग कामना-निवृत्ति में ही है। कामना-निवृत्ति में ही चिर-विश्राम निहित है, जो वास्तव में साधन है। अकर्त्तव्य के नाश तथा कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति से चिर-विश्राम की उपलब्धि सम्भव है। साधक विवेकपूर्वक यह भली-भाँति अनुभव कर लेता है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य न तो व्यक्तिगत है और न अपने लिए है अपितु उसके द्वारा विश्व की सेवा करनी है। सेवा वही कर सकता है जो सेव्य पर अपना अधिकार नहीं मानता और सामर्थ्य के अनुरूप विधिवत् सेव्य के अधिकारों की रक्षा करता है। सेव्य के अधिकारों की रक्षा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। अतः सेवक बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित होकर चिर-विश्राम से अभिन्न हो जाता है। इस प्रकार साधक मिली हुई वस्तु, योग्यता आदि को अपना न मानकर उसके सदुपयोग द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो चिर-विश्राम प्राप्त करता है। चिर-विश्राम रूपी साधन की अभिव्यक्ति ममता-रूपी असत् के त्याग से ही सम्भव है। असत् का त्याग और असाधन का नाश, सत् का संग और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् हैं। असत् के त्याग में साधक के प्रयास की पूर्णता और असाधन के नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति में मंगलमय विधान की उदारता निहित है। अतः सत्संग और साधन के भेद को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ हो सिद्धि पाता है।

अपने प्रति होने वाली बुराई किसी को प्रिय नहीं है, यह बात सभी साधकों को विदित है। जो अपने लिए प्रिय नहीं है, उसे अन्य के प्रति करने की रुचि अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् के सङ्ग से ही कर्त्तव्य की विस्मृति और अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। अतएव कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए इस जाने हुए असत् का त्याग अनिवार्य है। साधक जिस-जिस अंश में जाने हुए असत् का त्याग करता जाता है उसी-उसी

अंश में अकर्त्तव्य का नाश स्वतः होता जाता है। जिस-जिस अंश में अकर्त्तव्य का नाश होता आता है उसी-उसी अंश में कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति होती जाती है। इस दृष्टि से सर्वांश में अकर्त्तव्य का नाश होने पर ही कर्त्तव्य-परायणता से साधक की अभिन्नता हो जाती है।

मंगलमय विधान की दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि किए हुए का परिणाम कर्ता को ही मिलता है। इस कारण किसी को भी किसी के प्रति वह नहीं करना है, जिसमें किसी का अहित है। अतएव अपने हित के लिए उन सभी चेष्टाओं का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जिनसे दूसरों का अहित है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक अपने इस जाने हुए असत् का त्याग करे कि दूसरों की हानि में अपना लाभ, ह्रास में विकास, अवनति में उन्नति है। जब साधक उस सुख को स्वीकार नहीं करता जिसका जन्म किसी के दुःख से हो, उस विकास को नहीं अपनाता जो किसी के ह्रास से हो तब उसका विकास अवश्य होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी के कर्त्तव्य में किसी का अधिकार और किसी के अधिकार में ही किसी का कर्त्तव्य है। परन्तु यह सभी साधकों को विदित है कि साधक की स्वाधीनता कर्त्तव्य-पालन में है, अधिकार पाने में नहीं। अधिकार तो किसी कर्त्तव्यनिष्ठ की उदारता में है और कर्त्तव्यपरायणता साधक का अपना साधन है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य में ही अपना अधिकार है, अधिकार पाने में नहीं। जब साधक अपने इस जाने हुए असत् का कि "अधिकार पाने में स्वाधीनता है" त्याग कर देता है तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ होकर कृतकृत्य हो जाता है। अधिकार-लोलुपता साधक को राग तथा क्रोध से रहित नहीं होने देती। राग तथा क्रोध के रहते हुए कर्त्तव्य-परायणता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से साधक को अधिकार-लोलुपता से रहित होना परम आवश्यक है।

सुख के बने रहने का प्रलोभन और दुःख के आ जाने का भय साधक को प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करने देता, जिसके बिना

कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती। अत: साधक को सुख के प्रलोभन तथा दु:ख के भय से रहित होना अनिवार्य है। विधान के अनुसार सुख अपने आप जाता है और दु:ख अपने आप आता है। जो अपने आप जाता है, उसको बनाए रखने का प्रलोभन तथा जो अपने आप आता है, उससे भयभीत होना अपना जाना हुआ असत् है। कारण कि जो सम्भव नहीं है उसको सम्भव बनाने का प्रयास ही तो असत् है। अत: साधक जब तक अपने को सुख के प्रलोभन तथा दु:ख के भय से रहित नहीं कर लेता तब तक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है और उसके बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता ही होती है।

बुराई को बुराई जानकर न करना और भलाई को भलाई जानकर करना साधन है, परन्तु किसी भी प्रलोभन से प्रेरित होकर की हुई भलाई और किसी भय से भयभीत होकर त्यागी हुई बुराई वास्तव में साधन के रूप में असाधन है। असाधन के रूप में असाधन का नाश सुगम है और जब असाधन साधन के रूप में प्रतीत होता है तब उसका मिटाना बहुत ही दुष्कर हो जाता है। प्रलोभन और भय का होना अपना जाना हुआ असत् है, क्योंकि इनके रहते हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक के जीवन में प्रलोभन तथा भय का कोई स्थान ही नहीं है।

समस्त असाधन अभिमान में और समस्त साधन निरभिमानता में निहित हैं। अभिमान के बिना किसी भी असाधन की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, कारण कि अभिमान के आते ही बेचारा साधक परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है. जिसके होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद की उत्पत्ति में ही भय, प्रलोभन, काम, क्रोध आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति हो जाती है। इस दृष्टि से अभिमान का त्याग अनिवार्य है। अभिमान की

उत्पत्ति किसी न किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति के आश्रित होती है। जब तक साधक परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करता तब तक अभिमान की उत्पत्ति ही नहीं होती। अत: परिस्थिति में जीवन-बुद्धि अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग किए बिना निरभिमानता सम्भव नहीं है, जो समस्त साधनों की जननी है।

अकर्त्तव्य का अन्त और कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक साधक को विवेक-विरोधी कर्म का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है, कारण कि वह अपना जाना हुआ असत् है। विवेक-विरोधी कर्म के रहते हुए किया हुआ कर्त्तव्य भी वास्तव में अकर्त्तव्य ही को पुष्ट करता है। आंशिक कर्त्तव्यपरायणता मिथ्या अभिमान को पोषित करती है। सीमित गुणों का अभिमान दोष-जनित वेदना को जाग्रत नहीं होने देता, जिसके बिना हुए दोष-जनित सुख का प्रलोभन नाश नहीं होता, जिसके रहते हुए अकर्त्तव्य का सर्वांश में अन्त सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से आंशिक कर्त्तव्य के अभिमान का नाश अनिवार्य है। जिसके होते ही कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा चिर-विश्राम निहित है।

कर्त्तव्य के पालन में साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अकर्त्तव्य के साथ-साथ किया हुआ कर्त्तव्य वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध सर्वदा प्राप्त परिस्थिति से है, अप्राप्त परिस्थिति से नहीं। अकर्त्तव्य-जनित सुख-लोलुपता ने ही बेचारे साधक को कर्त्तव्यपालन में असमर्थ कर दिया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का द्वन्द्व ही साधक के अहम् को जीवित रखता है। मंगलमय विधान के अनुसार जो नहीं करना चाहिए उसके न करने पर जो कर्त्तव्य है वह अपने आप होने लगता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता स्वाभाविक है, साधक का जीवन है। उससे निराश होना और हार स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

: 4 :

# पराधीनता का नाश : स्वाधीनता की अभिव्यक्ति

उत्पन्न हुए संकल्पों की जब पूर्ति नहीं होती तब प्राणीमात्र पराधीनता का अनुभव करता है। परन्तु वास्तविक स्वाधीनता का पुजारी तो संकल्प-पूर्ति में भी पराधीनता का ही दर्शन करता है, कारण कि संकल्प-पूर्ति देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन है। वस्तु आदि के अधीन होना स्वाधीनता नहीं है। यदि यही स्वाधीनता है तो फिर पराधीनता क्या है ? मंगलमय विधान के अनुसार स्वाधीनता साधक को दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और पराधीनता देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध रखती है। इस दृष्टि से संकल्पों की पूर्ति में स्वाधीनता स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् का त्याग किए बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं है। स्वाधीनता की माँग साधक की अपनी माँग है। इस माँग को संकल्प-पूर्ति की पराधीनता से मिटाया नहीं जा सकता। संकल्प-पूर्ति का सुख स्वाधीनता की माँग को कुछ काल के लिए भले ही दबा दे, किन्तु उसका नाश नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्रत्येक संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प का जन्मदाता है। इस दृष्टि से अनेक संकल्पों की पूर्ति होने पर भी परिणाम में संकल्प की अपूर्ति ही शेष रहती है, कारण कि सभी संकल्प किसी के भी पूरे नहीं होते। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प-पूर्ति में भी पराधीनता है।

स्वाधीनता की वास्तविक माँग को जगाने के लिए मंगलमय विधान से संकल्प की अपूर्ति का दर्शन होता है, किन्तु साधक सुखासक्ति के कारण संकल्प की अपूर्ति को महत्त्व नहीं देता, अपितु संकल्प-पूर्ति की दासता को सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। संकल्प-पूर्ति की दासता को बनाये रखना अपना जाना हुआ असत् है। असत् का संग रहते हुए उत्पन्न हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। सुख की दासता तथा दुःख का भय उत्पन्न हुआ असाधन है। इसका कारण एकमात्र संकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में असत् है। असत् के त्याग में ही असाधन का नाश है। असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् है।

पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति तभी सम्भव होगी जब साधक स्वाधीनता के लिए सुख के प्रलोभन और दुःख के भय का सर्वांश में परित्याग करे। विधान के अनुसार दुःख से भयभीत न होने पर दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव होता है, जिसके होते ही सुख का प्रलोभन स्वतः नाश हो जाता है। सुख के प्रलोभन का नाश होते ही संकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। इस दृष्टि से संकल्प की अपूर्ति का दुःख विकास का मूल है। दुःख के भय में सुख की दासता पोषित होती है, जिसके मिटाने के लिए दुःख की पुनरावृत्ति होती रहती है। सुख की दासता का नाश होने पर दुःख बुलाने पर भी नहीं आता। अतः दुःख से भयभीत होना अपना जाना हुआ असत् है। सुख की दासता ने बेचारे साधक को पराधीनता में आबद्ध किया और दुःख के भय ने सुख की दासता का नाश नहीं होने दिया। अतएव साधक के जीवन में सुख की दासता तथा दुःख के भय का कोई स्थान ही नहीं है।

संकल्पों की पूर्ति और अपूर्ति विधान के अधीन है। उनका सदुपयोग करने में साधक स्वाधीन है। प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के अन्त में वह स्थिति अपने आप आ जाती है, जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व थी, तो क्या संकल्प-पूर्ति

का परिणाम वही नहीं हुआ जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व था ? इस दृष्टि से साधक को संकल्प-पूर्ति से क्या मिला ? कुछ नहीं। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक संकल्प-पूर्ति में पराधीनता का दर्शन कर लेता है, जिसके करते ही संकल्प की अपूर्ति का भय नाश हो जाता है और संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति में आस्था होने लगती है, किन्तु साधक को वास्तविक स्वाधीनता का दर्शन उस स्थिति में भी नहीं होता, कारण कि स्वाधीनता का साम्राज्य सभी स्थितियों से अतीत है।

संकल्प की अपूर्ति, पूर्ति एवं निवृत्ति से सम्बन्ध स्वीकार करना भी स्वाधीनता से विमुख होना है। स्वाधीनता अपने में है और सभी अवस्थाएँ 'पर' में हैं। 'पर' से सम्बन्ध स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् के संग ने ही बेचारे साधक को पराधीनता में आबद्ध किया है। असत् का सङ्ग करते हुए उत्पन्न हुई पराधीनता नाश नहीं हो सकती और उसका नाश हुए बिना स्वाधीनता में प्रवेश नहीं हो सकता। 'स्व' सभी अवस्थाओं से अतीत है। स्वाधीनता के पुजारी को सभी अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। जिसके करते ही स्वतः उत्पन्न हुई पराधीनता मिट जायेगी। विधान के अनुसार पराधीनता उत्पन्न होती है, किन्तु स्वाधीनता अनुत्पन्न, शाश्वत, सनातन और अविनाशी है। इसी कारण स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। उत्पत्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का होता है जो अनुत्पन्न हुआ है। अनुत्पन्न हुआ अपने को और उत्पत्ति को प्रकाशित करता है। अनुत्पन्न हुई स्वाधीनता की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई पराधीनता की आसक्ति को खा लेती है और स्वाधीनता से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से स्वाधीनता की माँग में ही पराधीनता का नाश निहित है। बेचारा साधक स्वाधीनता से निराश होने पर पराधीनता में आबद्ध होता है, जो उसका अपना अपनाया हुआ असत् है। अपने अपनाए हुए असत् के त्याग का दायित्व साधक पर है। जब साधक अपने दायित्व को पूरा कर देता है तब मंगलमय

विधान से पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वत: हो जाती है।

अपने दायित्व को पूरा करने की क्षमता साधक को मिली है। इस दृष्टि से स्वाधीनता से निराश होना भूल है। स्वाधीनता से निराश होना असत् का सङ्ग है। उसका त्याग वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए असमर्थता स्वीकार करना भी असत् का ही सङ्ग है। असत् के सङ्ग का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। असत् को असत् जान लेना ही असत् से सम्बन्ध-विच्छेद का सुगम उपाय है। असत् का प्रकाशक सत् है। उसका संग ही सत्-संग है। असत् के सङ्ग से असाधन की उत्पत्ति और सत्-सङ्ग से साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। जिसकी अभिव्यक्ति स्वत: होती है उसमें साधक के प्रयास की अपेक्षा नहीं है। साधक का प्रयास एकमात्र जाने हुए असत् के त्याग में ही है। साधन की अभिव्यक्ति तो विधान के अधीन है।

जब तक साधक किसी अन्य के संकल्प में अपना संकल्प विलीन नहीं करता तब तक उसे पराधीनता में आबद्ध रहना ही पड़ता है। साधक अपने संकल्प में ही आप बँध गया है, यद्यपि उत्पन्न हुए संकल्पों से उसकी जातीय भिन्नता है। जिससे जातीय भिन्नता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना अत्यन्त सुगम है, परन्तु पराधीनता को सहन करने से संम्बन्ध-विच्छेद करना दुर्लभ प्रतीत होता है। जिससे जातीय भिन्नता है उससे सम्बन्ध स्वीकार करना असत् का संग है। उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग सत् का सङ्ग है। यदि साधक संकल्पों से सहयोग न करे तो वे अपने-आप मिटं जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं और अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प बिना ही पूरे हुए मिट जाते हैं। उत्पन्न हुए संकल्पों से तादात्म्य स्वीकार न करना जाने हुए असत् का त्याग है, जिसके करते ही असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है।

जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता तब उत्पन्न हुए संकल्प उसे अपने से भिन्न प्रतीत होते हैं। उस प्रतीति का आदर करने पर उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। जब उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग स्पष्ट रूप से हो जाता है तब संकल्पपूर्ति-अपूर्ति के परिणामस्वरूप सुख-दुःख से भी साधक का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता गलने लगती है। ज्यों-ज्यों पराधीनता गलती जाती है त्यों-त्यों स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाती है। साधक पराधीनता को बनाये रखने में सर्वदा असमर्थ तथा परतन्त्र है, परन्तु स्वाधीनता प्राप्त करने में सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है। स्वाधीनता अविनाशी तत्त्व है। अविनाशी तत्त्व की विस्मृति होती है, उससे विमुखता होती है, उससे दूरी नहीं होती। स्वाधीनता की विस्मृति ने पराधीनता में जीवन-बुद्धि और स्वाधीनता की विमुखता ने पराधीनता में सत्यता उत्पन्न कर दी है, जिससे बेचारा साधक पराधीनता मिटाने में अपने को असमर्थ मान लेता है। उसकी यह असमर्थता जाने हुए असत् के त्याग से वर्तमान में ही मिट सकती है।

जब साधक में सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होती है तब उसका अपना कोई संकल्प नहीं रहता। उत्पन्न हुई वस्तुओं की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता तथा सुन्दरता जीवित नहीं रहती। जिसके न रहने पर संकल्पों से तादात्म्य नहीं रहता। साधक के तादात्म्य के बिना कोई भी संकल्प उसे अपने अधीन नहीं कर सकता। साधक का स्वीकार किया हुआ तादात्म्य ही उसे संकल्पों के अधीन कर देता है और फिर बेचारा साधक अपने संकल्प में आप बँधकर सुखी-दुःखी होता है। यद्यपि साधक की माँग सुख-दुःख में आबद्ध रहने की नहीं है, परन्तु उत्पन्न हुई वस्तु की वास्तविकता से अपरिचित होने के कारण वह सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा को संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन से आच्छादित कर लेता है, जो उसका अपना जाना हुआ असत्

है। यह सभी साधकों को विदित है कि संकल्प पूर्ति से जो कुछ मिलता है वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नहीं है। जो जीवन नहीं है उसमें जीवन बुद्धि असत् का सङ्ग है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि न रहने से सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है, जिसके होते ही साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता और फिर वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है।

स्वाधीनता के साम्राज्य में नित्य-निवास की माँग साधक की अपनी माँग है। उसकी पूर्ति में बाधक है वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की आसक्ति। उसका मूल एकमात्र अपने को देह और देह को अपना मानना है। यह मान्यता वास्तव में अपना जाना हुआ असत् है, जिसके त्याग का दायित्व साधक पर है। असत् का स्पष्ट बोध असत् के त्याग में हेतु है। इस दृष्टि से साधक को असत् को जानने के लिए अथक अखण्ड प्रयास करना परम आवश्यक है। यह समस्या साधक की वर्तमान समस्या है। इसको हल किये बिना किसी अन्य समस्या में उलझना स्वाधीनता के पुजारी के लिए सर्वथा त्याज्य है। मूल असत् का त्याग किये बिना किसी भी प्रकार असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

जब साधक निज विवेक के प्रकाश में यह स्वीकार करता है कि मैं देह नहीं हूँ, तब देह के सम्बन्ध से उत्पन्न कर्म, चिन्तन और स्थिति से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। देह के रहते हुए ही साधक देह के प्रभाव से रहित हो जाता है, जिसके होते ही निर्वासना आ जाती है और देह को अपना न मानने से निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। निर्वासना तथा निर्विकारता साधन है। इस साधन की अभिव्यक्ति होते ही साधक स्वाधीनता के साम्राज्य में स्वतः प्रवेश पाता है।

असत् के संग का प्रभाव और सत् की लालसा जिसमें है वही साधक है। मंगलमय विधान के अनुसार असत् के संग का प्रभाव नाश

होते ही सत् की लालसा स्वतः पूरी होती है। असत् का त्याग करने पर असत् के सङ्ग का प्रभाव स्वतः नाश होता है, जिसके होते ही सत् का सङ्ग तथा साधन की अभिव्यक्ति अपने आप होती है। साधन की अभिव्यक्ति होते ही साधक का अस्तित्व साधन से भिन्न नहीं रहता। इस दृष्टि से साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। अतएव प्रत्येक साधक को असत् के त्याग द्वारा, सत्संग के लिए सर्वदा तत्पर रहना अनिवार्य है। सत्संग और साधन में ही साधक का जीवन है। साधक की प्रत्येक समस्या सत्संग द्वारा हल हो सकती है। पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति सत्संग में ही निहित है। असत् का त्याग और सत् का सङ्ग करने में साधक सर्वदा समर्थ है। असत् का त्याग विवेक-सिद्ध है। इस दृष्टि से निज विवेक के प्रकाश में असत् को असत् जानना और उसका त्याग वर्तमान की ही वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा प्रमाद है।

असत् के सङ्ग से साधक में असाधन की उत्पत्ति होती है। यह प्रभाव असत् का नहीं है, अपितु उसके सङ्ग का है। असत् का सङ्ग साधक ने किया है। इस दृष्टि से असाधन की उत्पत्ति में साधक की असावधानी ही हेतु है। भला पर-प्रकाश्य असत् कैसे साधक पर प्रभाव कर सकता है, यदि साधक स्वयं उसका सङ्ग न करे ? इसी कारण साधक पर असत् के त्याग का दायित्व है। असत् का परिचय तो सत् की जिज्ञासा जगाने में हेतु है। इतना ही नहीं, मंगलमय विधान के अनुसार असत् के ज्ञान में ही असत् की निवृत्ति है और असत्-की निवृत्ति में ही सत् की प्राप्ति है। अतः प्रत्येक साधक विवेक-विरोधी सम्बन्ध को त्याग कर पराधीनता के नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति में समर्थ है।

: 5 :

# आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति

विवेक-विरोधी विश्वास साधक का अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग किए बिना साधन-रूप विश्वास की अभिव्यक्ति नहीं होती, जिसके बिना हुए विश्वासपात्र से न तो नित्य-सम्बन्ध ही सिद्ध होता है और न प्रेमास्पद में आत्मीयता ही जाग्रत होती है। आत्मीयता में अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता निहित है। प्रियता रस की प्रतीक है। रस जीवन की माँग है। रस के अभाव में ही अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से नीरसता का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रियता के अतिरिक्त रस का स्रोत अन्य कहीं नहीं है और प्रियता एकमात्र आत्मीयता से जाग्रत होती है। आत्मीयता नित्य-सम्बन्ध में और नित्य-सम्बन्ध विश्वास में निहित है। अतएव साधन-रूप विश्वास को सजीव तथा सिद्ध करने के लिए विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग अनिवार्य है।

विकल्प-रहित विश्वास साधक का उसी के प्रति हो सकता है, जिसके सम्बन्ध में वह कुछ नहीं जानता। निज विवेक के प्रकाश में साधक इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से जिसे देखता है उसमें उसका विकल्प-रहित विश्वास नहीं हो सकता। अत: विश्वास उसी में हो सकता है जिसको साधक ने इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि जिसको देखा ही नहीं उसमें विश्वास कैसे किया जाए? तो विचार यह करना है कि जिसको देखा है क्या उससे नित्य सम्बन्ध हो सकता है ? जिससे नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता उसका विश्वास क्या साधन-रूप

विश्वास है ? देखे हुए में विश्वास करने से तो साधक के जीवन में अनेक विकार उत्पन्न हुए हैं। यह सभी साधकों को विदित है। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के विश्वास ने साधक को लोभ, मोह, दीनता, अभिमान, परिच्छिन्नता आदि दोषों में ही आबद्ध किया है, जिससे वह वास्तविक जीवन से विमुख हो गया है। इतना ही नहीं, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी विस्मृति हो गई है। इस कारण देखे हुए में विश्वास करना हितकर नहीं है, अपितु असत् का सङ्ग है, जिसका त्याग परम आवश्यक है।

जिससे नित्य-सम्बन्ध नहीं रह सकता उसके सदुपयोग में साधक का अधिकार है, विश्वास में नहीं। वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा हो सकती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के सदुपयोग से आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता मिल सकती है। इनके विश्वास का साधक के जीवन में कोई उपयोग नहीं है। जिसका जीवन में उपयोग नहीं है वह सर्वथा त्याज्य है। व्यक्तियों को भी सेवा ही अपेक्षित है। कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति में कितना ही विश्वास करे, किन्तु सेवा न करे तो उससे प्रसन्नता नहीं होती और न वह उसकी आवश्यकता ही अनुभव करता है। समस्त विश्व अपने अधिकार की पूर्ति में प्रसन्न होता है। सभी के अधिकारों की रक्षा ही वास्तविक सेवा है। जिसे साधक देखता है उसकी उसे सेवा करना है। सेवा करने से साधक में उदारता की अभिव्यक्ति होती है। उदारता आते ही दुखियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता स्वतः होने लगती है। इस दृष्टि से विश्व की सेवा अपेक्षित है, विश्वास नहीं।

इन्द्रिय-जन्य तथा बुद्धि-जन्य परिवर्तनशील प्रतीति में विश्वास अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग करते ही साधक में निर्विकारता तथा प्रतीति के प्रकाशक में अविचल श्रद्धा एवं विश्वास उदित होता है,

जिसके होते ही साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने विश्वासपात्र से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। यह नियम है कि जिसमें विश्वास नहीं होता उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। परिवर्तनशील प्रतीति से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही पराधीनता, जड़ता एवं अभाव का अन्त हो जाता है। कारण, प्रतीति के सम्बन्ध ने ही बेचारे साधक को पराधीनता, जड़ता आदि में आबद्ध किया है। चिन्मय जीवन से अभिन्नता प्रतीति की असंगता में निहित है। सम्बन्ध-विच्छेद स्वीकार किए बिना असंगता सिद्ध नहीं होती और उसके हुए बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती। इस दृष्टि से परिवर्तनशील प्रतीति से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए उसके विश्वास का त्याग परम आवश्यक है।

प्रत्येक साधक को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं की उत्पत्ति का ज्ञान भले ही हो, किन्तु इनसे अतीत जो जीवन है उस जीवन की उत्पत्ति का बोध किसी भी साधक को नहीं है। अनुत्पन्न हुए जीवन की माँग साधक की अपनी माँग है। अनुत्पन्न हुए जीवन की अप्राप्ति नहीं है, अपितु विस्मृति है, जो नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्वत: नाश हो जाती है, क्योंकि सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्मृति जाग्रत होती है, जो विस्मृति को खाकर प्रीति से अभिन्न हो जाती है। प्रीति स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता को नहीं रहने देती। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए प्रीति की अभिव्यक्ति अनिवार्य है, जो प्रेमास्पद के विश्वास में निहित है।

वस्तु, व्यक्ति आदि का विश्वास साधन-रूप विश्वास नहीं है। अत: उसका त्याग सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वस्तु, व्यक्ति आदि का विश्वास तो अनेक आसक्तियों का ही जन्मदाता है, जिनका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। आसक्तियों ने ही अनुरक्ति की माँग को शिथिल बनाया है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिन वस्तुओं में आसक्ति होती है वे वस्तुएँ तो नहीं रहतीं, पर आसक्ति उन वस्तुओं के

न रहने पर भी रहती है, जिसने बेचारे साधक में प्रीति की अभिव्यक्ति नहीं होने दी। वस्तुओं के विश्वास में ही वस्तुओं की आसक्ति निहित है। वस्तु-विश्वास वस्तुओं से तादात्म्य कर देता है। वस्तुओं का तादात्म्य वस्तुओं की आसक्ति को पुष्ट करता है। वस्तुओं से तादात्म्य रखते हुए वस्तुओं की आसक्ति का नाश सम्भव नहीं है, जिसके बिना हुए प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्रेम के पुजारी को वस्तुओं की आसक्ति का नाश करने के लिए वस्तुओं से असंग होना आवश्यक है।

विश्वास का उपयोग एकमात्र सम्बन्ध-स्वीकृति में है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य कार्य-सिद्धि में विश्वास का उपयोग करना विश्वास का दुरुपयोग है। विश्वास का दुरुपयोग ही विश्वास को निर्जीव बनाता है। विश्वास की सजीवता तभी सुरक्षित रहती है जब विश्वासी विश्वास का उपयोग विश्वासपात्र से आत्मीयता स्वीकार करने में ही करे। कामना-पूर्ति-निवृत्ति में विश्वास का उपयोग करना विश्वास के महत्त्व को घटाना है। प्राकृतिक विधान के अनुसार कामना-पूर्ति कर्म सापेक्ष और कामना-निवृत्ति विवेक-सिद्ध है। विश्वास की उपयोगिता उसी में की जाए जो विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से न हो सके। प्रेमास्पद से नित्य-सम्बन्ध विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। अतएव साधक को विश्वास का उपयोग प्रेमास्पद से आत्मीयता स्वीकार करने में ही करना उपयुक्त है। प्रियता की जागृति में आत्मीयता के समान कोई अन्य साधन है ही नहीं। यदि यह कह दिया जाये कि आत्मीयता में ही प्रियता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं है। प्रियता की जागृति श्रम-साध्य नहीं है। जिसकी जागृति श्रम-साध्य नहीं है, उसके लिए वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है, उसकी प्राप्ति सभी साधकों को सुलभ है। इस दृष्टि से प्रियता की अभिव्यक्ति से निराश होना अपना जाना हुआ असत् है। अपने जाने हुए

असत् का संग करना असाधन को जन्म देना है। असाधन की उत्पत्ति ने ही बेचारे साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न नहीं होने दिया। इस कारण प्रियता की जागृति से निराश होना भूल है। भूल को भूल जानते ही भूल का नाश स्वत: हो जाता है, अथवा यों कहो कि असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है। अपने जाने हुए असत् के त्याग में साधक असमर्थ नहीं है। सामर्थ्य होने पर भी सामर्थ्य का सदुपयोग न करना साधक की असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

विश्वासपूर्वक नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने पर आत्मीयता तभी सुरक्षित रह सकती है जब प्रेमी प्रेमास्पद से भिन्न किसी अन्य की सत्ता ही स्वीकार न करे और न प्रेमास्पद से कुछ माँगे। इतना ही नहीं, सभी ममताओं का अन्त आत्मीयता में हो जाए, अपने में अपना कुछ न रह जाए। प्रियता के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की माँग न रहे। यहाँ तक कि साधक का अस्तित्व ही प्रियता में परिवर्तित हो जाए यही आत्मीयता की पूर्णता है।

आत्मीयता किसी अभ्यास से सिद्ध नहीं होती, अपितु विश्वास से ही साध्य है। अन्य विश्वास, सम्बन्ध तथा चिन्तन के त्याग में ही विश्वास की सजीवता निहित है। जिसकी उपलब्धि कर्म तथा विवेक से सिद्ध है उसमें विश्वास करना भूल है। साधक को विश्वास एकमात्र उन्हीं में करना है जिन्हें वह विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकता। अभ्यास के लिए वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की अपेक्षा है। जिसकी सिद्धि वस्तु आदि की अपेक्षा रखती है वह सभी के लिए सुलभ नहीं है, कारण कि सभी वस्तुएँ सभी को प्राप्त नहीं हैं। इस दृष्टि से श्रमयुक्त साधन व्यक्तिगत है। श्रम के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, वह सदैव नहीं रहता, क्योंकि श्रम से उसकी प्राप्ति नहीं होती जो अनुत्पन्न हुआ है। अनुत्पन्न हुए की प्राप्ति में तो उसका विश्वास ही हेतु है। विश्वासी विश्वास से ही विश्वासपात्र को पाता है। विश्वासपात्र अपने विश्वास के अधीन

है, इस दृष्टि से विश्वास विश्वासपात्र से भी कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने विवेक-विरोधी विश्वास का अन्त कर प्रेमास्पद के विश्वास को अपनाया है। विवेक-विरोधी विश्वास के त्याग में साधक का पुरुषार्थ हेतु है, किन्तु विश्वासपात्र के अविचल विश्वास में तो एकमात्र विश्वासपात्र की अहैतुकी कृपा ही हेतु है। प्रेमास्पद की कृपा का आश्रय ही विश्वासी साधकों का सर्वस्व है।

अभ्यास का महत्त्व कार्य-कुशलता में भले ही हो, परन्तु प्रेम के साम्राज्य में तो अभ्यास का प्रवेश ही सम्भव नहीं है, कारण कि अभ्यास की सिद्धि के लिए देह आदि की अपेक्षा रहती है। देहाभिमानी का किसी प्रकार भी प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता है। देह आदि की ममता का अन्त करने पर ही साधक प्रेमास्पद से सम्बन्ध स्वीकार कर सकता है। जिनके सम्बन्ध-मात्र में ही देहाभिमान गल जाता है, उनके प्रेम-प्राप्ति में भला देहादि की क्या अपेक्षा होगी ? इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि आत्मीयता विश्वास-साध्य है, अभ्यास सिद्ध नहीं है।

विवेक-विरोधी विश्वास का अन्त होने पर जब साधक प्रेमास्पद के विश्वास को स्वीकार करता है तब उसमें मधुर स्मृति स्वत: जाग्रत होती है, किन्तु असावधानी के कारण साधक स्मृति का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर देखने के लिए लालायित होने लगता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि जिन वस्तुओं की ममता का त्याग किया था उनसे पुन: ममता स्थापित हो जाती है, जिसके होते ही स्मृति में शिथिलता आ जाती है और फिर साधक अपनी विश्वासपूर्वक स्वीकार की हुई आत्मीयता में विकल्प पर बैठता है। साधन-निर्माण का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में देखने की अभिरुचि शरीर आदि की ममता को पोषित करने में हेतु है। इस प्रकार ममता का पुनर्जन्म भी तो असत् का सङ्ग है, जिसका

त्याग अत्यन्त आवश्यक है। साधक का अधिकार साधन-निर्माण में है, उसके फल में नहीं। साधन का निर्माण एकमात्र जाने हुए असत् के त्याग में है, असाधन के नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति में नहीं। असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति तो मंगलमय विधान के अधीन है, जो अपने आप होती है। जो वस्तु अपनी नहीं है उसको सुन्दर देखने की कामना ही तो ममता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। साधक की आत्मीयता तो एकमात्र साध्य ही में है। समस्त ममताओं के नाश में ही आत्मीयता पोषित होती है। आत्मीयता का प्रभाव साध्य की प्रियता में है। प्रियता का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर प्रकट होने से तो प्रियता में शिथिलता आती है, पर इस रहस्य को कोई विरले ही साधक जानते हैं। शरीर आदि की स्मृति मात्र भी साधक के लिए असह्य है, तो फिर उनमें विशेषता की अभिरुचि रखना आसक्ति के अतिरिक्त और क्या है ? आसक्ति का नाश और प्रेम की अभिव्यक्ति जाने हुए असत् के त्याग में निहित है।

यह सभी साधकों को विदित है कि ममता का नाश और पराधीनता का अन्त युगपद् है। सर्वांश में पराधीनता का नाश होने पर चिन्मय जीवन से एकता स्वाभाविक है, कारण कि पराधीनता ने ही साधक को जड़ता में आबद्ध किया है। परन्तु प्रेमास्पद में अविचल आत्मीयता के बिना नित-नूतन प्रियता उदित नहीं होती, जिसके बिना हुए अगाध, अनन्त, नित-नव रस की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। आत्मीयता में विकल्प अपना जाना हुआ असत् है, जिसका त्याग अनिवार्य है। आत्मीयता के अतिरिक्त अपने लिए कोई अन्य साधन भी है, ऐसी सम्भावना भी आत्मीयता में विकल्प कर देती है। साधन वही सजीव होता है जो विकल्प-रहित हो। साधन की स्वीकृति से पूर्व साधन-निर्माण-काल में साधक चाहे कितना विकल्प करे, उससे

क्षति नहीं होती। साधन का सम्बन्ध साधक की रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य से है। जिस साधन में इन सबका समर्थन हो वही साधन सिद्धिदायक है। ऐसे साधन की अभिव्यक्ति सत्संग में ही निहित है। सत्संग समस्त साधनों की भूमि है। सत्संग की उपलब्धि जाने हुए असत् के त्याग में निहित है।

प्रेमास्पद की आत्मीयता के अतिरिक्त यदि कोई और अपनी माँग है, तो वह आत्मीयता की सजीवता में बाधक है। प्रियता की अभिव्यक्ति में आत्मीयता से भिन्न कोई अन्य साधन नहीं है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक समस्त प्रलोभनों का अन्त कर अभय हो जाता है, जिसके होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति तथा आसक्तियों का अभाव स्वतः होता है। इस दृष्टि से आत्मीयता में ही समस्त विकास निहित है।

: 6 :

# मूक-सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति

जो अविनाशी है वही सत् है। उसका सङ्ग ही सत् का सङ्ग है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक सर्वदा सत् का सङ्ग करने में स्वाधीन है। सत् कभी किसी से अलग नहीं हुआ, फिर भी अप्राप्त-सा प्रतीत होता है, यही आश्चर्य है। अविनाशी अप्राप्त हो ही नहीं सकता. उसकी विस्मृति तथा उससे विमुखता हो सकती है। सत् जब साधक को अप्राप्त प्रतीत होता है तब उसे प्राप्त क्या है ? इस पर विचार करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक सत् का सङ्ग हो सकता है। सत् के सङ्ग में ही सत् की महिमा, सत् का प्रभाव और सत् की प्रियता निहित है। सत् की प्रियता असत् से विमुख कर सत् से अभिन्न करती है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो असत् के भोगी नहीं हैं, अपितु सत् के जिज्ञासु हैं।

अविनाशी से देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसकी अभेदता श्रमसाध्य नहीं है। समस्त श्रम काम से उत्पन्न होते हैं। काम की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है। श्रम का अन्त करने के लिए प्रत्येक साधक को निज विवेक के प्रकाश में काम का अन्त करना होगा। आवश्यक कार्य, जो वास्तव में वर्तमान कार्य है, उसे काम का अन्त करने की दृष्टि से करना परम आवश्यक है, किन्तु उसके फल में लेश मात्र भी आस्था न रहे और करने का राग भी पोषित न हो। तभी कार्य के अन्त में साधक को मंगलमय विधान से अल्पकाल विश्राम मिलेगा कारण कि अनावश्यक कार्य संकल्प-विकल्प के रूप में प्रकट होगा, जो

अपने आप आये हुए विश्राम को भंग कर देगा और साधक उन संकल्प-विकल्पों के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने को विश्राम-प्राप्ति में असमर्थ मान लेगा। इस भयंकर भूल से बचने के लिए साधक को अनावश्यक कार्य का त्याग दृढ़तापूर्वक करना होगा। अनावश्यक कार्य वही है जिसका सम्बन्ध वर्तमान से न हो और जिसमें साधक की सामर्थ्य तथा विवेक का समर्थन न हो। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं है और जिसके करने की सामर्थ्य साधक में नहीं है उस कार्य को साधक क्रियात्मक रूप तो दे ही नहीं सकता, केवल उसके करने का राग-मात्र ही साधक में अंकित रहता है, जिसका त्याग करना अनिवार्य है। कभी-कभी असावधानी से साधक विवेक-विरोधी कर्म कर बैठता है, जिसके करने से करने का राग नाश नहीं होता। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी कार्य का त्याग भी अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी कार्य का त्याग करने पर आवश्यक कार्य को पूरा करने की सामर्थ्य स्वत: प्राप्त होती है। प्राकृतिक विधान की दृष्टि से मिले हुए का सदुपयोग आवश्यक कार्य है। आवश्यक कार्य पूरा करने में असमर्थता की गन्ध भी नहीं है और अनावश्यक कार्य किसी को करना नहीं है। इस दृष्टि से आवश्यक कार्य के अन्त में विश्राम का सम्पादन परम आवश्यक है।

उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से तादात्म्य ही विश्राम को भंग करने में मुख्य हेतु है। जब साधक उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से विवेकपूर्वक तादात्म्य तोड़ देता है तब वे संकल्प-विकल्प निर्जीव हो जाते हैं। साधक असावधानी के कारण उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से भयभीत हो जाता है और उनका विरोध करने लगता है। ऐसा करने से अल्प-से-अल्प काल के लिए वे संकल्प दब से जाते हैं। उनके दबने-मात्र से ही साधक अपने में एक मिथ्या अभिमान का आरोप कर लेता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। दबे हुए संकल्प बार-बार उत्पन्न होते हैं। जब तक साधक उन्हें दबाता रहता है तब तक वे उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार का द्वन्द्व

अन्त में साधक को विश्राम से निराश कर देता है। इतना ही नहीं, जिस काल में संकल्प बलपूर्वक दबा दिए जाते हैं उस काल में भी साधक को लेशमात्र भी विश्राम नहीं मिलता, अपितु मस्तिष्क की शक्ति का अधिकांश भाग व्यर्थ ही व्यय हो जाता है, जिससे बेचारा साधक अपने में असमर्थता का अनुभव करने लगता है और फिर हार मानकर विश्राम से निराश हो जाता है। यह साधक की स्वाभाविक स्थिति नहीं है। इस अस्वाभाविकता का अन्त करने के लिए आवश्यक कार्य को पूरा कर अनावश्यक कार्य को त्याग, विश्राम पाना आवश्यक है।

जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता तब वह निर्भयतापूर्वक वर्तमान कार्य को पूरा कर निश्चिन्त हो जाता है। निश्चिन्तता सामर्थ्य की प्रतीक है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति स्वत: आ जाती है। साधक का अपना संकल्प उसे स्वाधीन नहीं होने देता। स्वाधीनता का अपहरण होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है, जिसके होते ही अनेक विकारों का जन्म हो जाता है। यद्यपि साधक की स्वाभाविक माँग निर्विकार होने की है, परन्तु साधक अपने संकल्प के अधीन होकर अपने को निर्विकारता से विमुख कर लेता है। निर्विकारता स्वरूप से अविनाशी है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उससे निराश होना भूल है। "अपना कोई संकल्प नहीं है" इस महामन्त्र को अपनाते ही साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता से अभिन्न हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

जब साधक विवेकपूर्वक वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता से रहित होकर निस्संकल्पता को स्वीकार करता है तब भी उसे संकल्प-विकल्पों का प्रवाह उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह प्रवाह भुक्ताभुक्त इच्छाओं का परिणाम है, और कुछ नहीं। साधक को इस प्रवाह से न तो भयभीत होना है और न सुख लेना है, अपितु उससे असहयोग करना है। असहयोग

करते ही वह प्रवाह स्वतः नष्ट हो जाएगा, किन्तु थोड़ी-थोड़ी देर बाद साधक इसका निरीक्षण न करे। निरीक्षण करने से असहयोग में विकल्प हो जाएगा, जिसके होते ही प्रवाह से तादात्म्य उत्पन्न होगा, जो उसे नष्ट नहीं होने देगा। साधक पर दायित्व एकमात्र उत्पन्न हुए प्रवाह से असहयोग करने का ही है। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश प्राकृतिक विधान के अनुसार अपने आप होता है, करना नहीं पड़ता। उत्पत्ति से सम्बन्ध-विच्छेद ही उसके मिटाने का सहज, सुगम उपाय है। प्रत्येक उत्पत्ति में सत्यता और सुन्दरता सम्बन्ध जोड़ने से ही प्रतीत होती है। जिस उत्पत्ति का विनाश साधक को अभीष्ट हो उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना अनिवार्य है। उत्पन्न हुआ समस्त दृश्य सम्बन्ध-विच्छेद करते ही निर्जीव हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

शान्ति सजगता तथा सामर्थ्य को सुरक्षित रखती है। सजगता तथा सामर्थ्य से ही प्रत्येक कार्य सांगोपांग सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से साधक को कार्य के आदि और अन्त में शान्ति को सुरक्षित रखना है। यह तभी सम्भव होगा जब कार्य की फ़लासक्ति तथा उसके करने का राग साधक में न हो। कार्य करने की सार्थकता करने के राग की निवृत्ति और दूसरों के अधिकार सुरक्षित रखने में है। मंगलमय विधान की दृष्टि से साधक को अपने लिए किसी भी कार्य की अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध विश्व की सेवा में निहित है। साधक को अपने लिए तो असंगता ही अपेक्षित है। जब प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म से ही साधक को असङ्ग रहना है तब अपने आप उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से तादात्म्य स्वीकार करने की तो कोई बात ही नहीं है। समस्त कार्यों का सम्पादन समष्टि शक्तियों के आश्रित है। साधक को तो केवल पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। जब कार्य के आदि और अन्त में स्वभाव से ही शान्ति का सम्पादन होने लगे तब साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिर-विश्राम से अभिन्न हो जाता है। चिर-विश्राम में समस्त विकास निहित हैं।

चिर-विश्राम साधक को सत् से अभिन्न और असत् से असङ्ग कर देता है। सत् से अभेद होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। असत् से असङ्ग होते ही समस्त विकार स्वतः नष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से विश्रामपूर्वक सत् का सङ्ग, अर्थात् मूक-सत्संग समस्त साधनों की भूमि है और समस्त साधन विश्राम में ही विलीन होते हैं, कारण कि सब कुछ करने पर वही प्राप्त होता है जो करने के आरम्भ से पूर्व था। समस्त साधनों की अभिव्यक्ति जिससे होती है उसी में समस्त साधन विलीन होते हैं। अनुत्पन्न हुए विश्राम से ही समस्त साधनों का प्रादुर्भाव होता है और समस्त साधन विश्राम से ही अभिन्न हो जाते हैं।

अविनाशी का सङ्ग किसी श्रम से साध्य नहीं है। इस कारण मूक-सत्संग ही सर्वोत्कृष्ट सत्संग है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं, जिन्होंने सत् के सङ्ग को वर्तमान जीवन की वस्तु स्वीकार किया है। असत् के सम्बन्ध ने सत् से विमुख किया है। उसका त्याग विवेकसिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं। असत् की कामना ही विश्राम को भंग करती है, जिसके होते ही सत् से दूरी तथा भेद प्रतीत होता है। वास्तव में तो सत् से दूरी तथा भेद सम्भव ही नहीं है, क्योंकि असत् भी सत् से ही प्रकाशित है। इतना ही नहीं, असत् की प्रतीति में भी सत् ही हेतु है। सत्तारूप से सर्वत्र, सर्वदा सत् ज्यों-का-त्यों है। उससे अभिन्न होने में चिर-विश्राम ही सुगम साधन है। विश्राम के बिना किसी भी प्रकार सत् का सङ्ग सम्भव नहीं है। उसके बिना किसी भी साधक को न तो स्वाधीनता ही मिल सकती है और न साध्य के प्रति अगाध अनन्त नितनव प्रियता। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के लिए मूक सत्संग अनिवार्य है।

असत् के संग का प्रभाव प्रकट हुए बिना नाश नहीं होता। श्रम-साध्य साधन उस प्रभाव को दबाता है, प्रकट नहीं होने देता। मूक-सत्संग उस प्रभाव को प्रकट करता है। यदि साधक सावधानीपूर्वक उत्पन्न हुए प्रभाव

से सहयोग न करे तो वह अपने-आप मिट जाता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग के बिना निर्विकारता सम्भव नहीं है और उसके बिना चिरविश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति सर्वदा असम्भव है। मूक-सत्संग सहज तथा स्वाभाविक सत्संग है। उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, अपितु अप्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न है।

श्रम की सार्थकता वर्तमान कार्य को विधिवत् करने में है, किन्तु वह कार्य साधक का अपना कार्य नहीं है, अपितु विश्व की सेवा है। सही काम करने से अपने आप सुन्दर समाज का निर्माण होता है और साधक काम-रहित हो जाता है, जिसके होते ही वास्तविक जीवन की माँग सबल तथा स्थायी हो जाती है। जब एक ही माँग स्थायी हो जाती है तब उस माँग की पूर्ति अपने आप होती है। इस दृष्टि से श्रम का अन्त चिर-विश्राम में ही है। जो श्रम साधक को विश्राम से अभिन्न नहीं करता वह अनावश्यक श्रम है। उसका त्याग आवश्यक है। अनावश्यक श्रम के त्याग से आवश्यक श्रम समष्टि शक्तियों के सहयोग से स्वतः होने लगता है और फिर साधक में कर्त्तव्य-पालन का अभिमान भी शेष नहीं रहता। जब साधक में अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्य का अभिमान नहीं रहता तब अप्रयत्न ही प्रयत्न रह जाता है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। सीमित अहम्भाव किसी-न-किसी गुण तथा दोष के आश्रित जीवित है। निर्दोषता की उत्कट लालसा जब दोष को उत्पन्न नहीं होने देती तब गुण का अभिमान अपने-आप गल जाता है, जिसके गलते ही बेचारा अहम्, विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है। निर्दोषता की उत्कट लालसा तभी जाग्रत होती है जब साधक को किसी प्रकार की भी पराधीनता सहन नहीं होती है। पराधीनता को सहन करते रहना ही साधक का प्रमाद है। इस प्रमाद का अन्त मूक-सत्संग द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है। 'है' का संग श्रम-साध्य नहीं है। अतः मूक-सत्संग से ही 'है' का संग साध्य है। मूक-सत्संग वर्तमान दशा का बोध कराने में अचूक मन्त्र है।

जब साधक कुछ भी करने का संकल्प नहीं रखता तब अपने-आप वर्तमान वस्तुस्थिति का स्पष्ट तथा यथेष्ट बोध हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता की उत्कट लालसा स्वतः जाग्रत होती है, जो दोष-जनित सुख के राग को खाकर गुणों के अभिमान से रहित कर देती है और फिर अहम्भाव रूपी अणु का नाश हो जाता है।

सब कुछ करने का अन्त न करने में ही होता है। कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु जो 'है' उससे संग करने का उपाय कुछ न करना है। जिससे विभाजन हो ही नहीं सकता, दूरी हो ही नहीं सकती, उससे अभिन्न होने में कुछ न करना ही हेतु है। बस यही मूक-सत्संग है। मूक-सत्संग के बिना सत् का संग सम्भव नहीं है। असत् के त्याग की पूर्णता मूक-सत्संग में निहित है। असत् के विवेचन द्वारा असत् के त्याग के संकल्प की पूर्ति मूक-सत्संग में ही निहित है, कारण कि त्याग में ही समस्त प्रयत्न का अन्त है।

जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, वही वास्तव में कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। जब तक साधक को अपने लिए कुछ करना है तब तक सर्वांश में कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती। अपने लिए कुछ करना नहीं है, यह तभी सम्भव होता है जब मूक-सत्संग के द्वारा साधक अपनी पूर्ति पाता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है और विधिवत् कर्त्तव्य-पालन करने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता, तब भी अन्त में मूक-सत्संग ही रह जाता है। कर्त्तव्यनिष्ठ होकर मूक-सत्संग प्राप्त करना अथवा मूक-सत्संग के द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठ होना साधक की अपनी रुचि के अधीन है। जो साधक असमर्थता का अनुभव करता है वह मूक-सत्संग द्वारा कर्त्तव्यनिष्ठ होता है और जो साधक मिली हुई सामर्थ्य का पवित्र भाव से सद्व्यय करता है वह कर्त्तव्यनिष्ठ होकर मूक-सत्संग प्राप्त करता है। सामर्थ्य के सद्व्यय करने का जब अभिमान गल जाता है तब अन्त में मूक-सत्संग सजीव होता है; कारण कि जो करना

चाहिए उसके करने पर कर्ता अकर्ता होकर अनन्त से अभिन्न होता है। यही मूक-सत्संग की सजीवता है। करने की रुचि होने पर भी जब साधक वह नहीं कर पाता जो करना चाहिए तब अधीर होकर न करने की स्थिति में ही आता है, जिसमें आते ही आवश्यक सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सामर्थ्य का प्रतीक है।

भौतिकवाद की दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता, अध्यात्मवाद की दृष्टि से असंगता और आस्तिकवाद की दृष्टि से शरणागति ही अन्तिम प्रयास है। इन तीनों प्रयासों की पूर्णता मूक-सत्संग में निहित है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति श्रम-साध्य नहीं है, अपितु श्रम-रहित होने में ही है। श्रम के द्वारा तो प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता है। असंगता की सिद्धि भी श्रम-साध्य नहीं है, कारण कि श्रम की उत्पत्ति किसी न किसी के सङ्ग से साध्य है। इस दृष्टि से असंगता के लिए भी मूक-सत्संग ही मुख्य उपाय है। जब साधक अपने में भली-भाँति असमर्थता का अनुभव कर लेता है तभी शरणागत होने का अधिकारी होता है। इस दृष्टि से जो कुछ नहीं कर पाता वही शरणागत होकर सिद्धि पाता है। अतएव सामर्थ्य के सद्व्यय द्वारा कर्त्तव्यपरायणता तथा असंगता एवं शरणागति की पूर्णता मूक-सत्संग में ही है। संकल्पपूर्वक न करने का अर्थ मूक-सत्संग नहीं है, अपितु संकल्पों के त्याग में ही मूक-सत्संग है। कुछ न करने का संकल्प भी श्रम है। मूक-सत्संग श्रमसाध्य नहीं है। आवश्यक चेष्टा के अन्त में अपने आप जो स्थिति होती है उसी का सुरक्षित रहना मूक-सत्संग का आरम्भ है, किन्तु आवश्यक कार्य के अन्त में जो आगे-पीछे का चिन्तन होने लगता है वह अपने आप आए हुए विश्राम को आच्छादित कर देता है, अथवा कार्य के अन्त में जो क्षणिक सुख मालूम होता है उसका भोग भी मूक-सत्संग सिद्ध नहीं होने देता। आगे-पीछे का चिन्तन साधक के न चाहने पर भी होता है। जिसका होना अपने को अभीष्ट नहीं है, उससे असहयोग ही अपेक्षित है। अपने आप होने वाली दशा-विशेष को बलपूर्वक मिटाने का प्रयास

सर्वथा त्याज्य है, कारण कि उसे बलपूर्वक मिटाया नहीं जा सकता। साधक उत्पन्न हुई अवस्था से जब असहयोग कर देता है तब उसका प्रभाव साधक पर नहीं रहता। सभी अवस्थाओं का प्रभाव नाश होते ही साधक मूक-सत्संग द्वारा अवस्थातीत जीवन से अभिन्न हो जाता है, जिसमें पराधीनता तथा परिच्छिन्नता की गन्ध भी नहीं है।

मूक-सत्संग सिद्ध होते ही 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही अमरत्व से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के लिए मूक-सत्संग परम आवश्यक है। प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में मूक-सत्संग हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो आदि और अन्त में है वही अखण्ड है। अतएव मूक-सत्संग अखण्ड है। जो अखण्ड है वही अविनाशी है और उसी में जीवन है। जीवन की माँग मूक-सत्संग से साध्य है। जीवन की लालसा प्रत्येक साधक में स्वभाव से ही विद्यमान है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव है जब साधक मूक-सत्संग के बिना किसी प्रकार भी न रह सके। श्रम-साध्य समस्त उपाय साधक को देहाभिमान में ही आबद्ध करते हैं। देहाभिमान रहते हुए काम, क्रोध आदि विकारों का नाश सम्भव नहीं है। मूक-सत्संग के द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक देहाभिमान गल जाता है, कारण कि श्रम की अपेक्षा न रहने पर देह आदि से सम्बन्ध बनाए रखना अनावश्यक सिद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अनावश्यक वस्तुओं का नाश अपने आप हो जाता है। इस दृष्टि से देहाभिमान गलाने में भी मूक-सत्संग हेतु है।

मूक-सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सहज स्वभाव से ही सत् से अभिन्न होना है। श्रम तथा अभ्यास की अपेक्षा वास्तव में सत्संग के लिए नहीं है। अभ्यास तथा श्रम की आवश्यकता तो एकमात्र मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के सद्व्यय में है। सत् में सभी का नित्य-निवास है। उससे अलग होना सम्भव नहीं है। जिससे अलग हो ही नहीं सकते

उसका संग श्रम-साध्य नहीं है, अपितु सब प्रकार के श्रम से रहित होने पर ही सत् का सङ्ग सम्भव है। सत् में अविचल आस्था सत्संग की प्रेरणा देती है और सत् की लालसा असत् की कामनाओं को खाकर स्वतः सत् से अभिन्न करती है। मूक-सत्संग सत् की आस्था को सजीव करने में समर्थ है। सत् में अविचल आस्था साधक को असत् से असङ्ग करने में हेतु है। असत् से असङ्ग होते ही असत् का अपने आप सत् से अभेद हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने सत्संग को ही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ स्वीकार किया है।

आवश्यक शक्तियों का प्रादुर्भाव मूक-सत्संग से स्वतः होता है। इस दृष्टि से समस्त असमर्थताओं का अन्त मूक-सत्संग में निहित है। असमर्थता का अन्त होते ही जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए वह मंगलमय विधान से स्वतः हो जाता है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्य का अभिमान सदा के लिए गल जाता है। जिसके गलते ही समस्त भेद नष्ट हो जाते हैं। भेद का नाश होते ही निश्चिन्तता, निर्भयता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। निश्चिन्तता में चिर-विश्राम, निर्भयता में स्वाधीनता एवं आत्मीयता में प्रेम निहित है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सफलता की कुञ्जी है।

अनन्त का अनुपम आश्रय, अपने में अपनी प्रियता, असत् से विमुखता और सर्वात्मभाव मूक-सत्संग से ही सम्भव है। अनन्त का अनुपम आश्रय निरभिमानता का, अपने में अपनी प्रियता स्वाधीनता का, असत् से विमुखता चिर-विश्राम का और सर्वात्म-भाव कर्त्तव्य का प्रतीक है। निरभिमानता से अभिन्नता, स्वाधीनता से दिव्य चिन्मय जीवन, चिर-विश्राम से समस्त विकास और कर्त्तव्य से सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होता है।

संकल्प-जनित समस्त चेष्टाओं का अन्त कर स्वभाव से ही भीतर-बाहर से शान्त होना ही मूक-सत्संग है। अप्राप्त की कामना, मिले हुए का दुरुपयोग और नित्यप्राप्त में आस्था एवं प्रियता का न होना

मूक-सत्संग में बाधक हैं। नित्य-प्राप्त का अर्थ अविनाशी तत्त्व है। मिले हुए का अर्थ उत्पन्न हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि है और उसी की कामना अप्राप्त की कामना है, कारण कि मिले हुए से नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसका आकर्षण ही कामना का जन्मदाता है। मिले हुए के दुरुपयोग ने ही कर्त्तव्य का अपहरण किया है। इस दृष्टि से मिले हुए का सदुपयोग, अप्राप्त की कामना का त्याग एवं नित्य-प्राप्त में अगाध अनन्त प्रियता मूक-सत्संग में हेतु है। मूक-सत्संग स्वाभाविक सत्संग है। उसमें अस्वाभाविकता की गन्ध भी नहीं है। अल्प काल का मूक-सत्संग भी सजगता प्रदान करने में समर्थ है। सजगता आते ही जड़त्व से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता में, अभाव पूर्णता में और आसक्ति प्रीति में परिवर्तित हो जाती है; नीरसता, खिन्नता, क्षोभ और असमर्थता की गन्ध भी नहीं रहती। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही जीवन की सार्थकता निहित है। मूक-सत्संग सभी साधकों के लिए समान है। दार्शनिक भेद होने पर भी मूक-सत्संग में कोई अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार भूमि प्रत्येक बीज को विकसित करने में समर्थ है, उसी प्रकार मूक-सत्संग सभी साधकों के विकास में समर्थ है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सभी साधकों को अपनाना अनिवार्य है।

जिस प्रवृत्ति का आरम्भ शान्ति से नहीं होता वह प्रवृत्ति सांगोपांग सम्पन्न नहीं होती और जिस निवृत्ति का अन्त शान्ति में नहीं होता वह निवृत्ति सजीव नहीं होती। प्रवृत्ति और निवृत्ति ही साधक के जीवन के दो पहलू हैं। निवृत्ति से प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है और प्रवृत्ति से मिली हुई सामर्थ्य का सद्व्यय होता है। मिली हुई सामर्थ्य के सद्व्यय से ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है और अभिमान-रहित निवृत्ति से ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। मंगलमय विधान के अनुसार प्रवृत्ति जगत् के लिए और निवृत्ति अपने लिए है। अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति को साधन-रूप सिद्ध करने के लिए मूक-सत्संग अपेक्षित है। प्रवृत्ति और निवृत्ति से अतीत के जीवन में साधक का अहम् गलकर अनन्त की

अनुपम प्रियता में परिवर्तित हो जाता है। यह भी मूक-सत्संग से ही सिद्ध है, कारण कि अहम् का नाश श्रम-साध्य नहीं है। श्रम के मूल में बीज-रूप से अपना सुख छिपा रहता है। मूक-सत्संग साधक को सुख की दासता और दु:ख के भय से रहित कर देता है, जिसके होते ही अहम् अपने आप गल जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अहम् सुख तथा दु:ख के आश्रय से ही जीवित है। सुख-दु:ख के आश्रय का नाश श्रम-साध्य नहीं है। इस कारण मूक-सत्संग से ही अहम् का नाश हो सकता है। अत: जीवन की पूर्णता, जो विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम में निहित है, मूक-सत्संग से ही सिद्ध है।

सत्संग की महिमा असाधन के नाश और साधन की अभिव्यक्ति में है। इस दृष्टि से सत्संग सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। उसके बिना किसी को साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के भेद होने पर भी मूक-सत्संग सभी के लिए समान है। मूक-सत्संग के द्वारा समस्त असाधनों का नाश हो सकता है और योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप व्यक्तिगत साधन की अभिव्यक्ति भी हो सकती है। इतना ही नहीं, समस्त साधन जिस साधन-तत्त्व से अभिन्न होते हैं, उसकी अभिव्यक्ति भी मूक-सत्संग में निहित है। अतएव मूक-सत्संग सभी साधकों का अपना सत्संग है; कारण कि मूक-सत्संग की सिद्धि 'पर' की अपेक्षा नहीं रखती है। जिसके लिए 'पर' की अपेक्षा नहीं रहती वह सभी के लिए समान है। यदि मूक-सत्संग का सम्बन्ध किसी परिस्थिति विशेष से होता तो वह सभी के लिए समान न होता; परन्तु मूक-सत्संग के लिए तो किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा ही नहीं है। अत: साधक चाहे जिस परिस्थिति में हो, मूक-सत्संग स्वाधीनतापूर्वक हो सकता है।

मूक-सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु जीवन का सहज, स्वाभाविक एवं अविभाज्य अंग है। उसका कोई भी साधक त्याग नहीं कर सकता, किन्तु उसे सत्संग का रूप कोई विरले ही दे पाते हैं। इतना ही नहीं,

स्वाभाविक होने से जीवन के इस महत्त्वपूर्ण अंग पर दृष्टि ही नहीं जाती। प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में सभी को मूक होना पड़ता ही है। ऐसा कोई श्रम है ही नहीं जिसका आदि और अन्त विश्राम में न हो। श्रम और विश्राम के भेद को स्पष्ट रूप से जान लेने पर मूक-सत्संग स्वत: होने लगता है। सभी श्रम वास्तविक विश्राम के लिए हैं और विश्राम स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए है। यह रहस्य खुलते ही साधक को विदित हो जाता है कि मूक-सत्संग अनुपम तथा अचूक उपाय है। जिज्ञासु में विचार, विश्वासी में विरह एवं कर्त्तव्यनिष्ठ में आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति मूक-सत्संग से अपने आप होती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार समस्त साधन सत्संग में ही निहित हैं। सत्संग के बिना साधन का निर्माण किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सत्संग की वह रूप रेखा, जो सभी साधकों को सहज तथा स्वाभाविक हो, मूक-सत्संग में ही निहित है।

सत्संग साधक के जीवन का वह महत्त्वपूर्ण अनिवार्य अंग है जिसका किसी भी हेतु से त्याग नहीं किया जा सकता। समस्त प्रवृत्तियों के आदि और अन्त में सत्संग अत्यन्त आवश्यक है। साधकों को यह भली-भाँति ज्ञात रहे कि मूक-सत्संग अभ्यास का रूप न बन जाए, श्रम की गन्ध भी न आने पाए। विश्राम की प्रियता से ही कार्य के अन्त में मूक-सत्संग स्वत: होने लगे और जिस माँग की पूर्ति के लिए मूक-सत्संग किया गया है उसी की पूर्ति अभीष्ट हो। असमर्थता, पराधीनता एवं आसक्तियों के नाश तथा सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की माँग की पूर्ति में मूक-सत्संग की अपेक्षा है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती और गुणों का अभिमान गल जाता है। स्वाधीनता दिव्य चिन्मय जीवन से और प्रेम अगाध अनन्त रस से अभिन्न कर देता है, जो सभी साधकों की अन्तिम माँग है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सभी के लिए सफलता की कुञ्जी है।

: 7 :

# उपसंहार

चिर-विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम सभी साधकों की अपनी माँग है, जिसकी पूर्ति कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता में निहित है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में कर्त्तव्यपरायणता, विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग में असंगता एवं विवेक-विरोधी विश्वास के नाश में आत्मीयता निहित है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास साधक का अपना जाना हुआ असत् है। उसके संग से ही अकर्त्तव्य, असाधन तथा आसक्ति की उत्पत्ति हुई है। अतएव इन समस्त विकारों का अन्त करने के लिए असत् के संग के त्याग का दायित्व साधक पर है।

मंगलमय विधान के अनुसार दायित्व को पूरा करने में असमर्थता नहीं है, अपितु साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। वास्तविक माँग की विस्मृति में ही दायित्व की विस्मृति है। दायित्व का स्पष्ट बोध न होने के कारण साधक अपने को दायित्व पूरा करने में असमर्थ मान लेता है। वर्तमान वस्तुस्थिति का साधक पर ज्यों-ज्यों स्पष्ट तथा यथेष्ट प्रभाव होता जाता है त्यों-त्यों वास्तविक माँग की स्मृति जाग्रत होती जाती है। वास्तविक माँग की स्मृति जाग्रत होते ही साधक को अपने दायित्व का स्पष्ट बोध हो जाता है और फिर उसको पूरा करने में साधक अपने को स्वाधीन तथा समर्थ पाता है।

परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य की निवृत्ति होने पर साधक को स्वत: विश्राम मिलता है, जिसके मिलते

ही दिव्य शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। शक्तियों के प्रादुर्भाव से पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चेतना में और अभाव पूर्णता में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता में ही विश्राम निहित है, जो समस्त दिव्य शक्तियों की भूमि है। आवश्यक कार्य को पूरा करने की स्वाधीनता साधक को मिली है। आवश्यक कार्य वही है जिसके करने में निज विवेक तथा सामर्थ्य का समर्थन है। सामर्थ्य-विरोधी तथा विवेक-विरोधी कार्य अनावश्यक कार्य है। अनावश्यक कार्य के त्याग में ही आवश्यक कार्य की सिद्धि निहित है। अनावश्यक कार्य का त्याग न करना असत् का संग है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अनावश्यक कार्यों को बनाए रखने से आवश्यक कार्य की विस्मृति होती है और आवश्यक कार्य न करने से अनावश्यक कार्यों की उत्पत्ति होती रहती है। इस कारण साधक को सावधानीपूर्वक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से करना अनिवार्य है।

विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप साधक को सभी के अधिकारों की रक्षा करना है, परन्तु नवीन राग की उत्पत्ति न हो, उसके लिए उसे अपने अधिकार का त्याग करना है। अपने अधिकार का त्याग करते ही साधक राग तथा क्रोध से रहित हो जाता है। राग के अन्त में पराधीनता का और क्रोध के अन्त में विस्मृति का नाश निहित है। पराधीनता के नाश में ही स्वाधीनता की अभिव्यक्ति और विस्मृति के नाश में ही अखण्डस्मृति स्वतः होती है। स्वाधीनता चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में और स्मृति प्रेम के प्रादुर्भाव में समर्थ है। इस दृष्टि से राग तथा क्रोध अपना जाना हुआ असत् है, जो दूसरों के अधिकार के अपहरण तथा अधिकार-लोलुपता से पोषित होता है और यही वास्तव में अकर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य का त्याग जाने हुए असत् का त्याग है, जिसके करते ही स्वतः कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है।

कर्त्तव्यपरायणता में चिर-विश्राम और उसी में स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। अकर्त्तव्य का अन्त करने में जो असमर्थता प्रतीत होती है उसका एकमात्र कारण पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है। पराधीनता में असह्य वेदना का जाग्रत न होना, पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करता है, जो अपना जाना हुआ असत् है, जिसके संग से साधक स्वाधीनता से निराश होने लगता है। यद्यपि स्वाधीनता की माँग साधक की अपनी माँग है, परन्तु उससे निराश होने के कारण उसकी पूर्ति दुर्लभ प्रतीत होती है। स्वाधीनता सभी साधकों को सदैव मिल सकती है। यदि ऐसा न होता तो उसकी माँग ही न होती। माँग उसी की होती है जिसकी पूर्ति असम्भव न हो, अपितु सर्वदा सम्भव हो। जो सम्भव है उससे निराश होना और जो असम्भव है उसकी आशा करना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् के संग ने ही साधक में स्वाधीनता से निराशा और पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न कर दी है।

उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से नित्य सम्बन्ध बनाए रखना सर्वदा .असम्भव है और सभी अवस्थाओं से अतीत जो दिव्य जीवन है उससे अभिन्न होना सर्वदा सम्भव है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो जाने हुए असत् के त्याग में सर्वदा तत्पर हैं। जाने हुए असत् का त्याग ही साधक का परम पुरुषार्थ है। स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाने के लिए विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग परम आवश्यक है। उसके बिना पराधीनता का नाश तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है। उत्पन्न हुई वस्तुओं से साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। अतः उनकी ममता का त्याग सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता उसी से है जिसकी उसमें जिज्ञासा तथा प्रियता है। उत्पन्न हुई वस्तुओं में आसक्ति है, प्रियता नहीं। प्रियता

अनुत्पन्न हुए अनन्त ही में है। जिनमें आसक्ति है उनकी ममता का त्याग और जिसमें प्रियता है उसमें आत्मीयता स्वीकार न करना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् का त्याग करते ही साधक स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है; कारण कि विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम इन तीनों से साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

चिर-विश्राम कर्त्तव्यपरायणता में, स्वाधीनता असंगता में और प्रेम आत्मीयता में निहित है। कर्त्तव्यपरायणता विश्व के लिए, असंगता अपने लिए और आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी है। विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम अपना जीवन है। इससे भिन्न जो कुछ है वह अपना नहीं है। जो अपना नहीं है उसमें ममता असत् का संग है। जो अपना है उससे विमुख होना, निराश होना भी असत् ही का संग है। साधक के जीवन में असत् के संग का कोई स्थान ही नहीं है। अल्प से अल्प काल का असत् का संग बड़ी-से-बड़ी हानि में हेतु है। इस कारण असत् को जानते ही असत् का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है। उसके करने में किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नहीं है, अपितु असत् का ज्ञान ही असत् के त्याग में हेतु है। इस दृष्टि से अपने जाने हुए असत् के त्याग में लेशमात्र भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है।

सुख-लोलुपता ने विश्राम का और देहाभिमान ने स्वाधीनता का अपहरण किया है। कर्त्तव्यपरायणता सुख-लोलुपता का और विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग देहाभिमान का अन्त करने में समर्थ है। स्वाधीनता के साम्राज्य में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। जिसे स्वाधीनता भी सन्तुष्ट नहीं कर पाती उसी में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम अनन्त का स्वभाव है। उससे अभिन्न होने में ही साधन की पूर्णता है।

●

# सत्संग और साधन

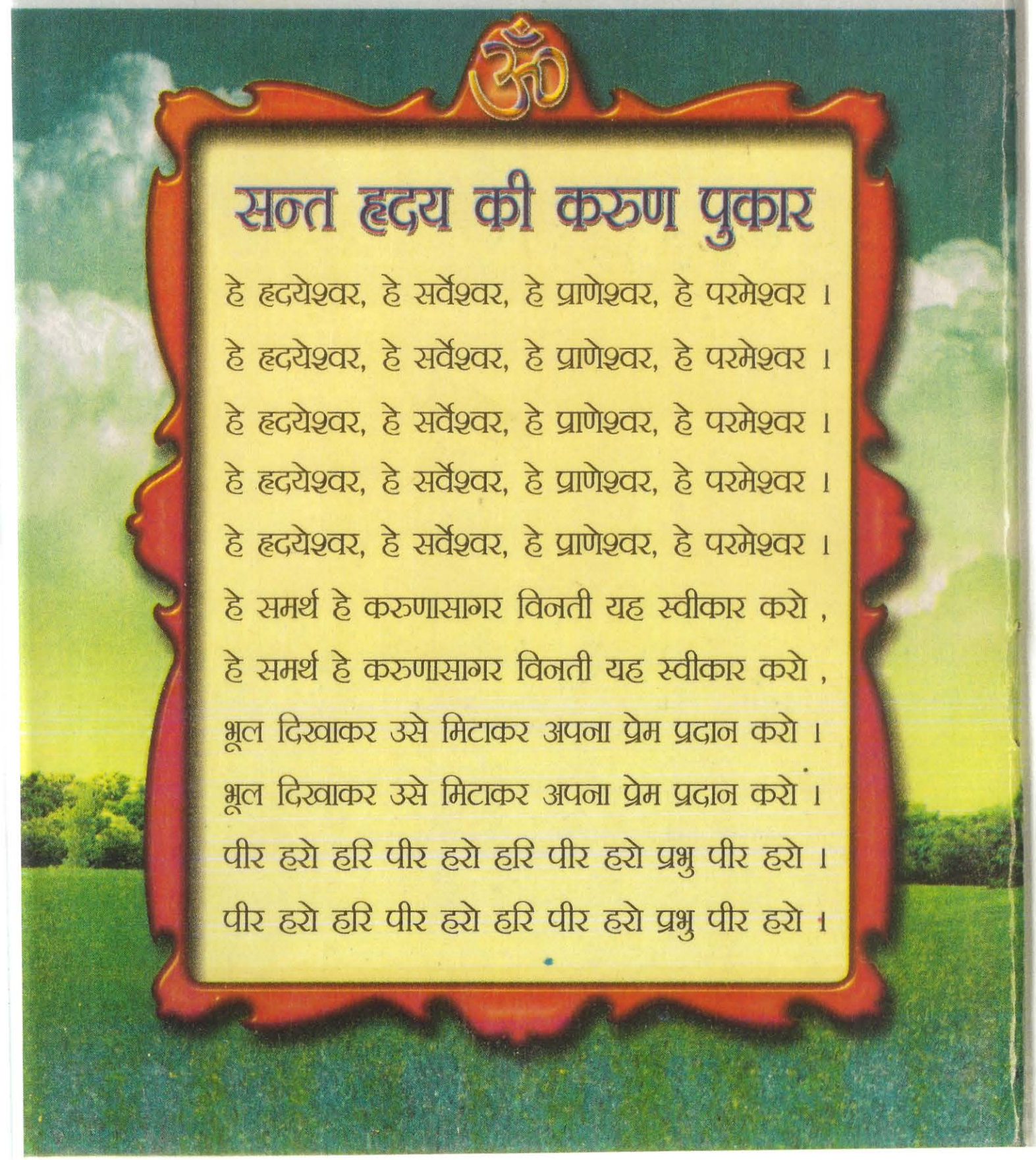

ॐ

## सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।